THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : १२

सम्पादक
डॉ० सागरमल जैन

जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान

लेखक
डॉ० कमलेशकुमार जैन
जैनदर्शन व्याख्याता, जैन-बौद्धदर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सव्वं लोगम्मि सारभूयं

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

(अहमदाबाद), प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला (काशी विद्यापीठ), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के भूतपूर्व जैनदर्शन विभागाध्यक्ष पं० अमृतलाल शास्त्री (जैनदर्शन-प्राध्यापक, जैन विश्व भारती, लाडनूं), पं० उदयचन्द्र जैन पूर्व रीडर एवं दर्शन विभागाध्यक्ष, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, का० हि० वि० वि०), डॉ० राजाराम जैन (रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-प्राकृत विभाग, एच० डी० जैन कालेज, आरा) एवं स्व० अगरचन्द नाहटा (बीकानेर) प्रभृति विद्वानों का भी हृदय से आभारी हूँ, जिनके स्नेह एवं शुभाशीर्वाद से यह कार्य पूर्ण हो सका। इस कार्य को पूर्ण करने में जिन मित्रों का सहयोग मिला है, उनमें डॉ० जयकुमार जैन (संस्कृत-प्रवक्ता, एस० डी० पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, मुजफ्फरनगर) डॉ० कु० मञ्जुला मेहता (पूना) एवं श्री अनुभवदास के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी द्वारा शोधवृत्ति, आधुनिक सुविधा सम्पन्न छात्रावास एवं पुस्तकालय सम्बन्धी सुविधाएँ प्राप्त हुई हैं, इसके लिये विद्याश्रम के संचालकों का हृदय से कृतज्ञ हूँ। केन्द्रीय एवं विभागीय पुस्तकालय का० हि० वि० वि०, श्री गणेश वर्णी दि० जैन शोध संस्थान पुस्तकालय एवं श्री विश्वनाथ पुस्तकालय (गोयनका संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी) के अधिकारियों का भी आभारी हूँ, जिनकी कृपा से अनेक ग्रन्थों के अवलोकन तथा उपयोग करने की सुविधा मिली है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन का पूर्ण श्रेय पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी के वर्तमान निदेशक आदरणीय डॉ० सागरमल जैन को है, अतः उनका हृदय से आभारी हूँ। प्रारम्भिक १६० पृष्ठों का प्रूफ संशोधन डॉ० रविशंकर मिश्र ने किया है और शब्दानुक्रमणिका तैयार करने में श्री अरुणकुमार जैन (शोध छात्र, संस्कृत विभाग, का० हि० वि० वि०) का सहयोग मिला है, अतः उक्त बन्धुद्वय धन्यवाद के पात्र हैं। ग्रन्थ-मुद्रण का कार्य वर्द्धमान मुद्रणालय ने सम्पन्न किया है, अतः उनके प्रति भी मैं अपना धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

बी २/२४९ निर्वाण भवन
लेन नं० १४, रवीन्द्रपुरी
वाराणसी—२२१००५
श्रुतपञ्चमी वि० सं० २०४१

कमलेशकुमार जैन
व्याख्याता, जैन-बौद्धदर्शन विभाग
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५

क्योंकि इसमे अलंकार सम्बन्धी विचार संस्कृत की ही परम्परा के अनुसार किया गया है और वे विशुद्ध सभी संस्कृत जैन-आलंकारिकों के पूर्ववर्ती हैं।

प्रथम शती के आर्यरक्षित और एकादश शती के अलंकारदप्पणकार के अनन्तर हम वाग्भट-प्रथम से शुरु होने वाले जैन आलंकारिकों की परम्परा में प्रवेश करते हैं। यह परम्परा द्वादश शताब्दी से अविच्छिन्न चलती है।

परिचयात्मक विवरण प्रारम्भ करने के पूर्व यह उल्लेखनीय है कि धर्म की दृष्टि से सम्प्रदाय-भेद के होते हुए भी ये सभी आचार्य अलंकार सम्प्रदाय के अधिकारी प्रवक्ता हैं और सबने अलंकार-शास्त्र के सभी प्रतिपाद्य तत्त्वों पर गम्भीर तथा सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करते हुये संस्कृत अलंकार-साहित्य को परिपुष्ट किया है।

आर्यरक्षित

आर्यरक्षित की गणना एक विशिष्ट युग प्रधान आचार्य के रूप मे की जाती है। इनका जन्म वीर-निर्वाण सम्वत् ५२२ मे, दीक्षा (२२ वर्ष की आयु मे) वीर-निर्वाण सम्वत् ५४४ (ई० सन् १७) में, युगप्रधान पद (६२ वर्ष की आयु में) वीर-निर्वाण सम्वत् ५८४ (ई० सन् ५७) मे तथा स्वर्गवास (७५ वर्ष की आयु में) वीर निर्वाण सम्वत् ५९७ (ई० सन् ७०) मे माना जाता है। कुछ आचार्यों के मतानुसार आर्यरक्षित का स्वर्गवास वीर-निर्वाण सम्वत् ५८४ (ई० सन् ५७) मे हुआ था।[1]

इनके पिता का नाम सोमदेव था, जो मालवान्तर्गत् दशपुर (मन्दसौर) के राजा उदयन के पुरोहित थे तथा माता का नाम रुद्रसोमा था। आर्यरक्षित अल्पायु मे ही वेद-वेदागो का अध्ययन करने के लिये पाटलिपुत्र चले गये थे। अध्ययन करने के पश्चात् जब वे घर लौटे तब दशपुर के राजा और नगर-वासियो ने प्रसन्न होकर बड़ी धूमधाम से उन्हे नगर प्रवेश कराया। तत्पश्चात् दिन के अन्तिम प्रहर में घर पहुँचकर उन्होंने अपनी माता को प्रणाम किया। माता रुद्रसोमा जैन धर्म की उपासिका थी, अत: वेद-वेदागो के अध्ययन से वह अत्यधिक प्रसन्न नही हुई। कारण ज्ञात कर आर्यरक्षित दूसरे दिन प्रात काल ही जैनाचार्य तोसलीपुत्र के पास अध्ययन करने के लिए गये। वहाँ यह जानकर कि दृष्टिवाद का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जैन-दीक्षा अनिवार्य है, अतः

---

१. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग २, पृ० ५९० ।

उन्होंने दीक्षा ग्रहण की और ज्ञान प्राप्त किया । तत्पश्चात् वे आगे अध्ययन के लिए उज्जयिनी नगरी में वज्रस्वामी के पास गये । वहाँ जब उन्होंने नौ पूर्वों का अध्ययन कर दसम पूर्व का अध्ययन प्रारम्भ किया, तभी उनके माता-पिता ने पुत्र-वियोग से चिन्तित होकर अपने कनिष्ठ पुत्र फल्गुरक्षित को उन्हे बुला लाने के लिए भेजा । फल्गुरक्षित ने वहाँ पहुँचकर आर्यरक्षित से दशपुर लौटने का आग्रह किया । वहाँ उन्होंने अपने लघु भ्राता फल्गुरक्षित को जैनधर्म में दीक्षित किया और वज्रस्वामी से आज्ञा लेकर दशपुर की ओर प्रस्थान किया । दशपुर पहुँचकर उन्होंने अपने माता-पिता तथा परिजनो को प्रबुद्ध कर श्रमण-धर्म की दीक्षा दी । पुन वे नव-दीक्षित मुनियों को लेकर अपने गुरु तोसली-पुत्र के पास गये । गुरु तोसली पुत्र ने सन्तुष्ट होकर उन्हें अपना उत्तराधिकारी आचार्य नियुक्त किया ।[1]

अनुयोगद्वार-सूत्र

जैन-परम्परा मे आगम साहित्य का विशेष महत्त्व है । यह आगम साहित्य अग-प्रविष्ट और अग-बाह्य के रूप मे दो प्रकार का है । अग-बाह्य आगमों मे एक है अनुयोगद्वार सूत्र, जो प्राकृत-भाषा मे निबद्ध है । इसे चूलिका-सूत्र भी कहते हैं ।

अनुयोगद्वार-सूत्र मे अनुयोग के चार द्वार—उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय पर विचार किया गया है । उपक्रम के द्वितीय भेद नाम निरूपण के प्रसंग में एक-नाम, द्विनाम, त्रिनाम आदि क्रमश दस नामो तक उतनी-उतनी सख्या वाले विषयों का प्रतिपादन है । नौ नामो के अन्तर्गत् रसों का विवेचन किया गया है । रसो के नाम हैं—वीर, शृङ्गार, अद्भुत, रौद्र, व्रीडनक, बीभत्स, हास्य, करुण और प्रशान्त ।

इसी प्रकार अनुगम के अन्तर्गत् अलीक, उपघातजनक, निरर्थक, छल आदि बत्तीस दोषो का उल्लेख किया गया है ।

अलंकार-दप्पणकार

अलंकार-दप्पण के लेखक का नाम अज्ञात है । तथापि इसके प्रारम्भिक

---

१ प्रभावकचरित-आर्यरक्षितचरित, पृ० ६-१८ ।

आर्यरक्षित का जीवन चरित प्रभावकचरित के पूर्व रचित ग्रन्थों-आवश्यक चूर्णि और आवश्यकमलयगिरि-वृत्ति आदि में भी पाया जाता है ।

मंगलाचरण[1] में लेखक ने श्रुत देवता को नमस्कार किया है, अतः इतना ही कहा जा सकता है कि इसकी रचना किसी जैनाचार्य ने की होगी।[2] श्री अगरचन्द जी नाहटा के एक लेख[3] से ज्ञात होता है कि जैसलमेर के बृहद् ज्ञान भण्डार की ताडपत्रीय प्रति मे 'अलंकार दप्पण' के अतिरिक्त काव्यादर्श और उद्भटालंकार लघु-वृत्ति भी लिखी है, काव्यादर्श के अन्त मे प्रति का लेखन-काल 'सम्वत् ११६१ भाद्रपदे' लिखा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत रचना सम्वत् ११६१ के पूर्व की होगी। उक्त श्रीयुत नाहटा जी ने भँवरलाल नाहटा के अलंकारदप्पण के अनुवाद के प्रारम्भ मे (भूमिका स्वरूप) प्रस्तुत ग्रन्थ के अलंकार सम्बन्धी विवरण को ध्यान मे रखते हुए इसका निर्माण काल नवी से ११वीं शताब्दी माना है।[4] जैनाचार्य प्रणीत संस्कृत भाषा मे निबद्ध प्रायः सभी अलंकारशास्त्र सम्वत् ११६१ के पश्चात् रचे गये है। अतः पूर्ववर्ती होने से 'अलंकारदप्पण' की महत्ता स्वयसिद्ध है।

अलंकार-दप्पण :

प्रस्तुत कृति प्राकृत भाषा मे निबद्ध एक मात्र कृति है। इसमे केवल १३४ गाथाएँ है। जिनका सीधा सम्बन्ध अलंकारो से है। इसमे कुछ ऐसे नवीन अलंकारो का समावेश किया गया है, जो इसके पूर्व रचित ग्रन्थों मे उपलब्ध नही हैं। इसीलिए इसकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए श्री अगरचन्द नाहटा ने लिखा है कि इस ग्रंथ मे निरूपित रसिक, प्रेमातिशय, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर, उपमारूपक, उत्प्रेक्षायमक अलंकार अन्य लक्षण ग्रन्थो मे प्राप्त नही है। ये अलंकार नवीन निर्मित हैं, या किसी प्राचीन अलंकारशास्त्र का अनुसरण

---

१ सुंदरपअ विण्णास विमलालंकाररेहिअसरीरं।
सुहदेविअं च कव्वं च पणविअ पवरवण्णड्ढं ॥ १ ॥

२ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ६६।

३ 'प्राकृत भाषा का एक मात्र आलंकारिक ग्रन्थ अलंकार दर्पण'
—गुरुदेव श्रीरत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, पृ० ३६४-३६८।

४. 'प्राकृत भाषा का एक मात्र अलंकारशास्त्र अलंकारदप्पण'
—मरुधरकेशरी मुनिश्री मिश्रीमलजी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित, चतुर्थ खण्ड, पृ० ४२१।

हैं, निश्चित नहीं कहा जा सकता[1]। फिर भी उपमा आदि के महत्त्वपूर्ण विवेचन से प्रस्तुत ग्रन्थ की मौलिकता अक्षुण्ण है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे मंगलाचरण करने के पश्चात् सर्वप्रथम अलंकारों की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। पुन उपमा, रूपक, दीपक, रोध, अनुप्रास, अतिशय, विशेष, आक्षेप, जातिव्यतिरेक, रसिक, पर्याय, यथासंख्य, समाहित, विरोध, संशय, विभावना, भाव, अर्थान्तरन्यास, परिकर सहोक्ति, ऊर्जा, अपह्नुति, प्रेमातिशय (उत्कर्ष, परिवृत्त, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर), बहुश्लेष, व्यपदेश, स्तुति, समज्योति, अप्रस्तुतप्रशसा, अनुमान, आदर्श, उत्प्रेक्षा, ससिद्धि, आशीष, उपमारूपक, निदर्शना, उपेक्षावयव, उद्भिद्, वलित, अभेदवलित, और यमक इन ४० अलंकारो का नामोल्लेख किया है। तत्पश्चात् इन्ही अलंकारों के सभेद लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत कर विषय-विवेचन किया गया है। ग्रन्थकार ने उपमा के १७ भेद किए हैं, जो निम्न प्रकार हैं—प्रतिवस्तूपमा, गुणकलिता, उपमा, असमा-उपमा, मालोपमा, विगुणरूपा-उपमा, सम्पूर्णा-उपमा, गूढा-उपमा, निन्दाप्रशसोपमा, ललितप्सा-उपमा, निन्दोपमा, अतिशयिता-उपमा, श्रुतिमिलितोपमा, विकल्पिकोपमा (एकत्र विकल्पिकोपमा और बहुधा विकल्पिकोपमा)। इसमे किसी-किसी अलकार का मात्र उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

वाग्भट-प्रथम

वाग्भटालकार के यशस्वी प्रणेता वाग्भट-प्रथम और आचार्य हेमचन्द्र ये दोनो समकालीन आचार्य होते हुए भी काल की दृष्टि से वाग्भट-प्रथम हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती हैं, किन्तु वाग्भट-प्रथम की अपेक्षा आचार्य हेमचन्द्र को अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है, इसलिए कुछ विद्वानो ने आचार्य हेमचन्द्र को पूर्व मे स्थान दिया है और वाग्भट-प्रथम को पश्चात् मे[2]। काव्यानुशासन के रचयिता

---

१ अलंकारदप्पण-भूमिका।
—मरुधर केशरी मुनिश्री मिश्रीमल जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ चतुर्थ-खण्ड, पृ० ४२६।

२ द्रष्टव्य—सस्कृत साहित्य का इतिहास—अनु० मगलदेव शास्त्री, पृ० ४६८।
,, अलंकार धारणा विकास और विश्लेषण; पृ० २२४ एवं पृ० २२६।

वाग्भट को अभिनव-वाग्भट अथवा वाग्भट-द्वितीय के नाम से अभिहित किया जाता है। डॉ० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने नेमिनिर्वाण-काव्य के कर्त्ता वाग्भट को वाग्भट-प्रथम कहा है[१]। किन्तु आधुनिक विद्वान् सामान्यतः वाग्भटालंकार के कर्त्ता को वाग्भट-प्रथम और काव्यानुशासन के कर्त्ता को वाग्भट-द्वितीय मानते हैं[२]।

आचार्य वाग्भट का प्राकृत नाम बाहड तथा पिता का नाम सोम था[३]। यह एक कुशल कवि और किसी (जयसिंह राजा के) राज्य के महामात्य थे[४]। प्रभावक-चरित में बाहड के स्थान पर थाहड का प्रयोग किया गया है[५]। इनको प्रभावक चरित के अन्य कई स्थलों पर भी थाहड नाम से अभिहित किया गया है। वाग्भट प्रथम धनवान् और उच्चकोटि के श्रावक थे, एक बार इन्होंने गुरुचरणों में निवेदन किया कि मुझे किसी प्रशमनीय कार्य में धन-व्यय करने की आज्ञा दीजिए। उनके उत्तर में गुरुदेव ने जिनमंदिर बनवाने में व्यय किए गए धन को सफलीभूत बतलाया था, तदनन्तर गुरु के आदेशानुसार वाग्भट ने एक भव्य जिनालय का निर्माण कराया था, जो हिमालय के सदृश श्वेत, उत्तुंग और बहुमूल्य मणिओं वाले कलश से सुशोभित था। उसमें विराजमान वर्धमान

---

१ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड चतुर्थ, पृ० २२।

२ वाग्भट-विवेचन-आचार्य प्रियव्रत शर्मा, पृ० २८२।

३ बंभण्डसुत्तिसंपुड-मुक्तिअ-मणिणोपहासमूह व्व।
सिरि बाहडत्ति तणओ आसि बुहो तस्स सोमस्स ॥

—वाग्भटालंकार, ४।१४८।

४ बंभण्डसुत्तिसंपुड—इत्यादि पद्य की उत्थानिका में लिखा है—इदानीं ग्रन्थकार इदमलंकारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नाम गाथैकया निदर्शयति।—सिंहदेवगणि टीका—वाग्भटालंकार, ४।१४८, आचार्य हेमचन्द्र ने वाग्भट को जयसिंह का अमात्य कहा है।

—द्वयाश्रय महाकाव्य, २०।९१-९२।

५ अथासित थाहडो नाम धनवान् धार्मिकाग्रणी।
गुरुपादान् प्रणम्याथ चक्रे विज्ञापनामसौ ॥
वत्सरे तत्र चैकत्र पूर्णे श्रीदेवसूरिभिः।
श्री वीरस्य प्रतिष्ठां सा थाहडोऽकारयन्मुदा ॥

—प्रभावकचरित-वादिदेवसूरिचरित ६७, ७३।

(महावीर) स्वामी की प्रतिमा अद्भुत शोभा से युक्त थी, जिसके तेज से चन्द्र-कान्त और सूर्यकान्त मणि की प्रभा फीकी पड़ गई[1] थी।

आचार्य वाग्भट-प्रथम ने समुच्चयालंकार के उदाहरण में निम्न तीन रत्नों का उल्लेख किया है—(१) अणहिल्लपाटनपुर नामक नगर, (२) राजा कर्णदेव के सुपुत्र-राजा जयसिंह और (३) श्रीकलश नामक हाथी[2]। इससे यह निश्चित हो जाता है कि आचार्य वाग्भट-प्रथम चालुक्यवंशीय कर्णदेव के पुत्र राजा जयसिंह के समकालीन थे। राजा जयसिंह का राज्य काल वि० सं० ११५० से ११९९ (१०९३ ई० से ११४२ ई०) तक माना जाता है[3]। अतः वाग्भट-प्रथम का भी यही काल प्रतीत होता है। इसकी पुष्टि प्रभावक-चरित के इस कथन से भी होती है कि वि० सं० ११७८ में मुनिचन्द्रसूरि के समाधिमरण होने के एक वर्ष पश्चात् देवसूरि के द्वारा वाहड (वाग्भट) ने मूर्ति प्रतिष्ठा कराई[4]। तात्पर्य यह कि उस समय वाग्भट विद्यमान थे। अतः वाग्भट का समय उक्त राजा जयसिंह का ही काल युक्तियुक्त मालूम होता है। अब तक उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार उनका एक मात्र आलंकारिक ग्रन्थ वाग्भटालंकार ही प्राप्त है।

वाग्भटालंकार

वाग्भटालंकार एक बहुचर्चित कृति है। इसकी संस्कृत टीकाएँ जैन विद्वानों

---

१ प्रभावक चरित-वादिदेवसूरि चरित, ६७-७०।

२ अणहिल्लपाटल पुरमवनिपति कर्णदेवनृपसूनुः।
श्रीकलशनामधेयं करी च जगतीह रत्नानि ॥—वाग्भटालंकार, ४।१३२।

३ जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३२८।
गणेश त्र्यम्बक देशपांडे ने वाग्भट का लेखन काल ई० ११२२ से ११५६ माना है। —भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० १३५।

४ शतैकादशके साष्टासप्ततौ विक्रमार्कतः।
वत्सराणां व्यतिक्रान्ते श्रीमुनिचन्द्रसूरयः ॥
आराधनाविधिश्रेष्ठं कृत्वा प्रायोपवेशनम्।
शशपीयूषकल्लोलप्लुतास्ते त्रिदिवं ययुः ॥
वत्सरे तत्र चैकेन पूर्णे श्रीदेवसूरिभिः।
श्रीवीरस्य प्रतिष्ठां स वाहडो कारयन्मुदा ॥
—प्रभावकचरित-वादिदेवसूरिचरित, ७१-७३।

के अतिरिक्त जैनेतर विद्वानो द्वारा भी लिखी गई हैं। वाग्भटालंकार पर लिखी गई उपलब्ध एव अनुपलब्ध कुल टीकाओ की संख्या लगभग १७ है। इतनी अधिक टीकाओ से ही इस ग्रन्थ की महत्ता सिद्ध हो जाती है कि यह कितना लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है।

वाग्भटालकार को ५ परिच्छेदो मे विभाजित किया गया है। इसके प्रथम परिच्छेद मे मगलाचरण के पश्चात् काव्य-स्वरूप, काव्य प्रयोजन, काव्यहेतु, काव्य मे अर्थ-स्फूर्ति के पाच हेतु-मानसिक आह्लाद, नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि, प्रभातवेला, काव्य-रचना मे अभिनिवेश और समस्त शास्त्रों का अनुशीलन आदि का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् कवि-समय का वर्णन किया गया है, इसके अन्तर्गत् लोको और दिशाओ की संख्या निर्धारण, यमक, श्लेष और चित्रालंकार में ब और व, ड और ल आदि में अभेद, चित्रबन्ध के अनुस्वार और विसर्ग की छूट आदि का सोदाहरण वर्णन किया गया है।

द्वितीय परिच्छेद में सर्वप्रथम काव्य-शरीर का निरूपण करते हुए बतलाया गया है कि संस्कृत, प्राकृत, उस (सस्कृत) का अपभ्र श और पैशाची ये चारो भाषाएँ काव्य का अग होती हैं। काव्य के भेद, काव्य-दोष और उसके भेदो का अन्त मे विवेचन किया गया है।

तृतीय परिच्छेद मे औदार्य, समता आदि दस गुणो का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया गया है। कुछ गुणो का लक्षण और उदाहरण एक ही पद्य मे दिया गया है। यद्यपि वाग्भटालकार में सर्वत्र पद्यो का प्रयोग किया गया है, किन्तु ओजगुण का उदाहरण गद्य मे प्रस्तुत किया है।

चतुर्थ परिच्छेद मे सर्वप्रथम अलकारों की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। पुन चित्रादि चार शब्दालंकारो और जाति आदि पैंतीस अर्थालंकारो का सोदाहरण लक्षण निरूपण किया गया है। इसके साथ ही यत्र-तत्र अलकारो के भेदोपभेदो का भी सोदाहरण वर्णन किया है। तत्पश्चात् गौडीया और वैदर्भी इन दो रीतियो का सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत किया गया है।

पचम एव अन्तिम परिच्छेद मे रस-स्वरूप, सभेद शृङ्गारादि नौ रस और उनके स्थायी भाव, अनुभाव तथा भेदो का निरूपण किया गया है। प्रसंगवशात् बीच में नायक के चार भेद और उनका स्वरूप, नायिका के चार भेद और उनका स्वरूप आदि का वर्णन किया गया है।

आचार्य हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे। उनकी साहित्य

साधना अत्यन्त विशाल और व्यापक है। जीवन को संस्कृत संवर्धित और संचालित करने वाले जितने पहलू हैं, उन सब पर उन्होंने अपनी अधिकारपूर्ण लेखनी चलाई है। उनकी साहित्य सेवा को देखकर विद्वानों ने उन्हें 'कलिकाल-सर्वज्ञ' जैसी उपाधि से विभूषित किया है[1]।

आचार्य हेमचन्द्र का जन्म विक्रम सं० ११४५ में कार्तिक पूर्णिमा की रात्रि को धुंधुका नामक नगर (गुजरात) के मोढ वंश मे हुआ था। उनका बाल्यावस्था का नाम चागदेव था तथा उनके पिता का नाम चाचिग और माता का नाम पाहिणी देवी था[2]। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' के अनुसार बालक चाँगदेव का धीरे-धीरे विकास होने लगा। उसे बचपन से ही धर्म गुरुओ के संपर्क में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अत उन्होंने आठ वर्ष की अल्पायु मे ही अपने समय के प्रसिद्ध आचार्य देवचन्द्र से दीक्षा ग्रहण कर ली थी[3]। दीक्षा के पश्चात् उनका नाम सोमचन्द्र रखा गया[4]।

सोमचन्द्र ने थोड़े ही समय मे तर्क-साहित्य आदि सभी विद्याओ मे अनन्य प्रवीणता प्राप्त कर ली। तत्पश्चात् उन्होने अपने गुरु के साथ विभिन्न स्थानो मे भ्रमण किया और अपने शास्त्रीय एव व्यावहारिक ज्ञान मे काफी वृद्धि की[5]। विक्रम सवत् ११६६ मे २१ वर्ष की अल्पायु में ही मुनि सोमचन्द्र को उनके गुरु ने आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करके हेमचन्द्र नाम दिया[6]। जिसके कारण उन्होंने

---

१ हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर (एम० विन्टरनित्स) वाल्यूम सेकेण्ड, पृ० २८२।

२ (क) संस्कृत शास्त्रों का इतिहास—बलदेव उपाध्याय, पृ० २३४।

(ख) अर्द्धाष्टमनामनि देशे धुन्धुकाभिधाने नगरे श्रीमन्मोढवंशे चाचिगनामा व्यवहारी सतीजनमतल्लिका जिनशासनशासनदेवीव तत्सधर्मचारिणी शरीरिणीव श्री पाहिणीनाम्नी चामुण्डागोत्रजाया आद्याक्षरेणांकित-नामा तयो पुत्रश्चांगदेवोऽभूत्। —प्रबधचिन्तामणि-हेमसूरिचरित्र, पृ० ८३।

३ प्रबन्धचिन्तामणि-हेमसूरिचरित्र, पृ० ८३।

४ प्रभावकचरित-हेमचन्द्रसूरिचरित, श्लोक ३४।

५ काव्यानुशासन-हेमचन्द्र, प्रो० पारीख की अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ० २६६।

६ कुमारपाल प्रतिबोध-हेमचन्द्रजन्मादिवर्णन, पृ० २१।

आचार्य हेमचन्द्र के नाम से प्रतिष्ठा प्राप्त की। उनकी मृत्यु वि० सं० १२२९ में हुई थी[1]।

आचार्य हेमचन्द्र ने व्याकरण, कोश, छन्द, अलकार, दर्शन, पुराण, इतिहास आदि विविध विषयो पर सफलता-पूर्वक साहित्य सृजन किया है। शब्दानुशासन, काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, द्वयाश्रय महाकाव्य, योगशास्त्र, द्वात्रिंशिकाएँ, अभिधान-चिन्तामणि तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित ये उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र एक साथ कवि, कथाकार, इतिहासकार, एव आलोचक थे। वे सफल और समर्थ साहित्यकार के रूप मे प्रख्यात हुए हैं। पाश्चात्य विद्वान् डा० पिटर्स ने उनके विद्वतापूर्ण ग्रन्थों को देखकर उन्हे 'ज्ञान-महोदधि'[2] जैसी उपाधि से अलकृत किया है।

काव्यानुशासन

काव्यानुशासन आचार्य हेमचन्द्र का अलकार विषयक एकमात्र ग्रन्थ है। इसकी रचना वि० स० ११९६ के लगभग हुई है[3]। इसमे सूत्रात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। काव्य प्रकाश के पश्चात् रचे गये प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्वन्यालोक, लोचन, अभिनव भारती, काव्य-मीमासा और काव्य-प्रकाश से लम्बे-लम्बे उद्धरण प्रस्तुत किए गए है। जिससे कुछ विद्वान् इसे सग्रह ग्रन्थ की कोटि मे मानते हैं, किन्तु उनकी कुछ नवीन मान्यताओ का प्रस्तुत ग्रन्थ मे विवेचन मिलता है। आचार्य मम्मट ने कुल ६७ अलंकारो का उल्लेख किया है, किन्तु हेमचन्द्र ने मात्र २९ अलंकारो का उल्लेख कर शेष का इन्हीं में अन्तर्भाव किया है। मम्मट ने जिस अलकार को अप्रस्तुतप्रशसा नाम दिया है, उसे हेमचन्द्र ने "अन्योक्ति" नाम से अभिहित किया है। मम्मट काव्य प्रकाश को १० उल्लासो मे विभक्त करके भी उतना विषय नही दे पाये हैं, जितना हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन के केवल ८ अध्यायो मे प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही हेमचन्द्र ने अलकार-शास्त्र मे सर्वप्रथम नाट्य विषयक तत्त्वों का समावेश कर एक नवीन परम्परा का प्रणयन किया है, जिसका अनुसरण परवर्ती आचार्य विश्वनाथ आदि ने भी किया है।

---

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ७६।

२ हेमचन्द्राचार्य का शिष्य मण्डल, पृ० ४।

३ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १००।

काव्यानुशासन में तीन भाग पाये जाते हैं—(१) सूत्र, (२) अलंकार-चूडामणि नामक वृत्ति और (३) विवेक नामक टीका। इन तीनों के रचयिता आचार्य हेमचन्द्र ही हैं। यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय में काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, कवि-समय, काव्य-लक्षण, गुण-दोष का सामान्य लक्षण, अलंकार का सामान्य लक्षण, अलंकारों के ग्रहण और त्याग का नियम, शब्दार्थ-स्वरूप, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ का स्वरूप, शब्द-शक्तिमूलक-व्यंग्य मे नानार्थ निबन्धन, अर्थशक्तिमूलव्यंग्य के वस्तु और अलकार इन दो भेदो तथा इसके पद वाक्य और प्रबन्ध के अनेक भेदो का विवेचन किया गया है। साथ ही अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि के स्वतः सम्भवी, कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न-शरीर, इन अथवा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न—शरीर इन भेदो के कथन को अनुचित बताया गया है।

द्वितीय अध्याय मे रस-स्वरूप, रस के भेद-प्रभेद तथा उनका सोदाहरण लक्षण-निरूपण, स्थायिभाव और व्यभिचारिभावो की गणना एव उनका सोदा-हरण लक्षण, आठ सात्त्विक-भावो की गणना तथा काव्यभेदो का विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय मे दोष का विशेष लक्षण, आठ रसदोषो, १३ वाक्यदोषों और उभय, (पद-वाक्य) दोषो तथा अर्थदोषो का सोदाहरण विवेचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय मे माधुर्य, प्रसाद और ओज इन तीन गुणो के सभेद लक्षण और उदाहरण तथा तत्-तत् गुणो मे आवश्यक वर्णों का गुम्फन किया है।

पचम अध्याय में अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदा-भास शब्दालंकारो के सभेद लक्षण और उदाहरणो का विवेचन किया गया है।

षष्ठ अध्याय मे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, निदर्शना, दीपक, अन्योक्ति, पर्यायोक्त, अतिशयोक्ति, आक्षेप, विरोध, सहोक्ति, समासोक्ति, जाति (स्वभावोक्ति) व्याजस्तुति, श्लेष, व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास, ससन्देह, अपह्नुति, परिवृत्ति, अनुमान, स्मृति, भ्रान्ति, विषम, सम, समुच्चय, परिसंख्या, कारण-माला और संकर, इन २९ अर्थालंकारो का विवेचन किया गया है।

सप्तम अध्याय में नायक का स्वरूप, उसके आठ सात्त्विकगुणों का सोदाहरण लक्षण, नायक के चार भेद, उनका सोदाहरण स्वरूप, नायक के अवस्था भेद और उनका सोदाहरण लक्षण, प्रतिनायक, नायिका-भेद, उसकी स्वाधीन-

पत्रिका आदि आठ अवस्थाओ का सोदाहरण वर्णन तथा स्त्रियों के बीस सत्त्वज अलंकारों का सलक्षण-सोदाहरण विवेचन किया गया है ।

अष्टम अध्याय मे प्रबधकाव्य के दो भेद—दृश्य और श्रव्य, पुन दृश्य के दो भेद—पाठ्य और गेय, तत्पश्चात् पाठ्य के नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार, ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टिकाक, प्रहसन, भाण, वीथी और सट्टक आदि भेदो का लक्षण दिया गया है । इसी शृङ्खला मे गेय के डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित, राग और काव्य का लक्षण दिया गया है । तदनन्तर महाकाव्य, आख्यायिका, कथाआख्यान, निदर्शन प्रवह्लिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परि-कथा, खण्डकथा, सकलकथा, उपकथा, बृहत्कथा तथा चम्पू इन श्रव्य काव्यो का सलक्षण विवेचन किया गया है । अन्त मे मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक और कोश का सलक्षण विवेचन है ।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र

रामचन्द्र और गुणचन्द्र का नाम प्राय साथ-साथ लिया जाता है । इन विद्वानो के माता-पिता और वश इत्यादि के विषय मे कोई उल्लेख नही मिलता है । अत इतना ही कहा जा सकता है कि ये दोनो विद्वान् सतीर्थ्य के थे । आचार्य रामचन्द्र ने अपने अनेक ग्रन्थो मे अपने को आचार्य हेमचन्द्र का शिष्य बतलाया है[1] । ये उनके पट्टधर शिष्य थे । एक बार तत्कालीन गुर्जर नरेश सिद्धराज जयसिंह ने आचार्य हेमचन्द्र से पूछा कि आपके पट्ट के योग्य

---

१ शब्द–प्रमाण–साहित्य छन्दोलक्ष्मविधायिनाम् ।
श्री हेमचन्द्रपादाना प्रसादाय नमो नम ।।

—हिन्दी नाट्य-दर्पण विवृत्ति, अन्तिम प्रशस्ति. पद्य १ ।

सूत्रधार–दत्त श्रीमदाचार्यहेमचन्द्रस्य शिष्येण रामचन्द्रेण विरचित नलविलासाभिधानमाद्य रुपकमभिनेतुमादेश ।

—नलविलास, पृ० १ ।

श्रीमदाचार्यश्रीहेमचन्द्रशिष्यस्य प्रबन्धशतकर्तुर्महाकवे. रामचन्द्रस्य भूयास प्रबन्धा ।

—निर्भयभीम व्यायोग पृ० १ ।

गुणवान् शिष्य कौन है[1] ? इसके उत्तर मे हेमचन्द्र ने रामचन्द्र का नाम लिया था[2] ।

रामचन्द्र अपनी असाधारण प्रतिभा एवं कवि-कर्म कुशलता के कारण 'कविकटारमल्ल' की सम्मानित उपाधि से अलंकृत थे । यह उपाधि उन्हे सिद्धराज जयसिंह ने प्रसन्न होकर प्रदान की थी । इसका उल्लेख रत्नमंदिर-गणि-गुम्फित उपदेशतरंगिणी मे इस प्रकार मिलता है[3] कि एक बार जयसिंहदेव ग्रीष्म-ऋतु मे क्रीडोद्यान जा रहे थे, उसी समय मार्ग मे रामचन्द्र मिल गये । उन्होने रामचन्द्र से पूछा कि, ग्रीष्म-ऋतु मे दिन बड़े क्यो होते हैं ? इसके उत्तर मे उन्होने (तत्काल पद्य-रचना करके) निम्न पद्य कहा—

देव श्रीगिरिदुर्गमल्ल भवतो दिग्जैत्रयात्रोत्सवे,
धावद्वीरतुरगनिष्ठुरखुरक्षुण्णक्ष्मामण्डलात् ।
वातोद्धूतरजो मिलत्सुरसरित्सजातपंकस्थली-
दूर्वाचुम्बनचञ्चुरा रविहयास्तेनाति वृद्ध दिनम् ॥

यह सुनकर सिद्धराज द्वारा पुन 'तत्काल पत्तन-नगर का वर्णन करो' यह कहे जाने पर उन्होने निम्न पद्य की रचना की—

एतस्यास्य पुरस्य पौरवनिताचातुर्यता निर्जिता,
मन्ये नाथ ! सरस्वती जडतया नीर वहन्ती स्थिता ।
कीर्तिस्तम्भमिषोच्चदण्डरुचिरामुत्सृज्य वाहावली—
तन्त्रीका गुरुसिद्धभूपतिसरस्तुम्बी निजा कच्छपीम् ॥

---

१ राज्ञा श्रीसिद्धराजेनान्यदा नुयुयुजे प्रभु ।
भवता कोऽस्ति पट्टस्य योग्य शिष्यो गुणाधिक ॥
—प्रभावकचरित-हेमसूरिप्रबन्ध, पद्य १२९ ।

२ आह श्रीहेमचन्द्रस्य न कोऽप्येव हि चिन्तक ।
आद्योऽप्यभूदिलापाल सत्पात्राम्भोधिचन्द्रमा ॥
सज्ज्ञानमहिमस्थैर्य मुनीना किं न जायते ।
कल्पद्रुमसमे राशि त्वयीदृशि कृतस्थितौ ॥
अस्त्यामुष्यायणो रामचन्द्राख्य कृतिशेखर ।
प्राप्तरेख प्राप्तरूप संघे विश्वकलानिधि ॥ —वही, १३१-१३३ ।

३. द्रष्टव्य—उपदेशतरंगिणी, पृ० ६३ ।

तदनन्तर सिद्धराज ने प्रसन्न होकर सबके सामने "कविकटारमल्ल" की उपाधि प्रदान की थी।

महाकवि रामचन्द्र समस्यापूर्ति करने में भी चतुर थे। एक बार वाराणसी से विश्वेश्वर कवि पत्तन नामक नगर आये तथा वे आचार्य हेमचन्द्र की सभा मे गए। वहा राजा कुमारपाल भी विद्यमान थे। विश्वेश्वर ने कुमारपाल को आशीर्वाद देते हुए कहा—'पातु वो हेमगोपाल कम्बलं दण्डमुद्वहन्' चूंकि राजा जैन थे, अत उन्हे कृष्ण द्वारा अपनी रक्षा की बात अच्छी नहीं लगी। अतः उन्होने क्रोध भरी दृष्टि से देखा। तभी रामचन्द्र ने उक्त श्लोकार्ध की पूर्ति के रूप में "षड्दर्शनपशुग्राम चारयत् जैन गोचरे" यह कहकर राजा को प्रसन्न कर दिया[1]।

आचार्य रामचन्द्र की विद्वत्ता का परिचय उनकी स्वलिखित कृतियो मे भी मिलता है। रघुविलास मे उन्होने अपने को "विद्यात्रयीचणम्" कहा है। इसी प्रकार नाट्यदर्पण-विवृति की प्रारम्भिक प्रशस्ति मे "त्रैविद्यवेदिन" तथा अतिम प्रशस्ति मे व्याकरण-न्याय और साहित्य का ज्ञाता कहा है[3]।

प्रारम्भ मे कहे गये प्रभावकचरित और उपदेशतरंगिणी से यह ज्ञात होता है कि आचार्य हेमचन्द्र और सिद्धराज जयसिंह समकालीन थे तथा उस समय तक रामचन्द्र अपनी असाधारण प्रतिभा के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। सिद्धराज जयसिंह ने स० ११५० से स० ११९९ (ई० सन् १०९३-११४२) पर्यन्त राज्य किया था[4]। मालवा पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष मे सिद्धराज का स्वागत समारोह ई० सन् ११३६ (वि० स० ११९३) मे हुआ

---

१ प्रबन्ध-चिन्तामणि-कुमारपालादि प्रबन्ध पृ० ८९।

२ पञ्चप्रबन्धमिषपञ्चमुखानकेन विद्वन्मन सदसि नृत्यति यस्य कीर्ति।
विद्यात्रयीचणमचुम्बितकाव्यतन्द्र कस्त न वेद सुकृती किल रामचन्द्रम्॥
—नलविलासनाटक—प्रस्तावना, पृ० ३३।

३ प्राणा कवित्व विद्यानां लावण्यमिव योषिताम्।
त्रैविद्यवेदितोऽप्यस्मै ततो नित्य कृतस्पृहा॥ –प्रारम्भिक प्रशस्ति, ६।
शब्दलक्ष्म–प्रमालक्ष्म-काव्यलक्ष्म-कृतश्रम।
वाग्विलासस्त्रिमार्गो नो प्रवाह इव जाह्नव॥ —अंतिम प्रशस्ति, ४।

४ प्रबन्धचिन्तामणि-कुमारपालादि प्रबन्ध, पृ० ७६।

था, तभी हेमचन्द्र का सिद्धराज से प्रथम परिचय हुआ था[1]। सिद्धराज की मृत्यु सं० ११९९ में हुयी थी[2]। इस बीच रामचन्द्र का परिचय सिद्धराज से हो चुका था तथा प्रसिद्धि भी प्राप्त कर चुके थे। सिद्धराज जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल ने सं० ११९९ से १२३०[3] तथा उसके भी उत्तराधिकारी अजयदेव ने स० १२३० से १२३३[4] तक गुर्जर भूमि पर राज्य किया था। इसी अजयदेव के शासन काल मे रामचन्द्र को राजाज्ञा द्वारा तप्त ताम्र-पट्टिका पर बैठाकर मारा गया था[5]।

उपर्युक्त विवेचन से अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्य रामचन्द्र का साहित्यिक-काल वि० सं० ११९३ से १२३३ के मध्य रहा होगा।

महाकवि रामचन्द्र प्रबन्ध-शतकर्ता के नाम से विख्यात हैं। इसके संबंध मे विद्वानो ने दो प्रकार से विचार अभिव्यक्त किए हैं। कुछ विद्वान् प्रबन्धशत-कर्ता का अर्थ "प्रबन्धशत" नामक ग्रन्थ के प्रणेता ऐसा करते हैं। दूसरे विद्वान् इसका अर्थ "सौ ग्रन्थो के प्रणेता" के रूप मे स्वीकार करते हैं। डा० के० एच० त्रिवेदी ने अनेक तर्कों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि रामचन्द्र सौ प्रबन्धों के प्रणेता थे[6]। यह मत अधिक मान्य है, क्योंकि ऐसे विलक्षण एव प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् के लिए यह असम्भव भी प्रतीत नही होता है। उन्होंने अपने नाट्य दर्पण मे स्वरचित ११ रूपको का उल्लेख किया है। इसकी सूचना प्राय "अस्मदुपज्ञे———" इत्यादि पदों से दी गई है। जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—(१) सत्य हरिश्चन्द्र नाटक, (२) नलविलास-नाटक, (३) रघु-विलास-नाटक, (४) यादवाभ्युदय, (५) राघवाभ्युदय, (६) रोहिणीमृगाक-प्रकरण, (७) निर्भयभीम-व्यायोग, (८) कौमुदीमित्राणन्द-प्रकरण, (९) सुधा-

१ हिन्दी नाट्य-दर्पण, भूमिका, पृ० ३।

२ द्वादशस्वथ वर्षाणां शतेषु विरतेषु च।
एकोनेषु महीनाथे सिद्धाधीशे दिव गते ॥
—प्रभावकचरित-हेमसूरिचरित, पृ० १९७।

३ प्रबन्धचिन्तामणि-कुमारपालादि प्रबन्ध, पृ० ९५।

४ वही, पृ० ९७।

५ प्रबन्धचिन्तामणि-कुमारपालादि प्रबन्ध, पृ० ९७।

६ दी नाट्य दर्पण आफ रामचन्द्र एण्ड गुणचन्द्र . एक क्रिटीकल स्टडी, पृ० २१९-२०।

कलश, (१०) मल्लिकामकरन्द-प्रकरण और (११) वनमाला-नाटिका। कुमार विहार शतक, द्रव्यालंकार और यदुविलास ये उनके अन्य प्रमुख ग्रन्थ हैं। एतदतिरिक्त कुछ छोटे-छोटे स्तव भी पाये जाते हैं। इस प्रकार उनके उपलब्ध ग्रन्थो की कुल सख्या डा० के० एच० त्रिवेदी ने ४७ स्वीकार की है।[1]

नाट्य-दर्पण

यह नाट्य विषयक प्रामाणिक एव मौलिक ग्रन्थ है। इसमें महाकवि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अनेक नवीन तथ्यो का समावेश किया है। आचार्य भरत से लेकर धनजय तक चली आ रही नाट्यशास्त्र की अक्षुण्ण परम्परा का युक्तिपूर्ण विवेचन करते हुए आचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे पूर्वाचार्य स्वीकृत नाटिका के साथ प्रकरणिका नाम की एक नवीन विधा का सयोजन कर द्वादश-रूपको की स्थापना की है। इसी प्रकार रस की सुख-दु खात्मकता स्वीकार करना इस ग्रन्थ की सबसे बडी विशेषता है[2]। नाट्य दर्पण मे नौ रसो के अतिरिक्त तृष्णा, आर्द्र ता, आसक्ति, अरति और सतोष को स्थायीभाव मानकर क्रमश लौल्य, स्नेह, व्यसन, दु ख और सुख-रस की भी सम्भावना की गई है[3]। इसमे शान्त-रस का स्थायिभाव शम स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे ऐसे अनेक ग्रन्थो का उल्लेख मिलता है जो अद्यावधि अनुपलब्ध हैं। कारिका रूप मे निबद्ध किसी भी गूढ विषय को अपनी स्वोपज्ञ विवृति मे इतने स्पष्ट और विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है कि साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति को भी विषय समझने मे कठिनाई का अनुभव नही करना पडता है। इसीलिए इस ग्रन्थ की कतिपय विशेषताओ को ध्यान मे रखते हुए आचार्य बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—कि नाट्य विषयक शास्त्रीय ग्रन्थो मे नाट्यदर्पण का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यह वह शृङ्खला है जो धनजय के साथ विश्वनाथ कविराज को जोडती है। इसमे अनेक विषय बडे महत्त्वपूर्ण हैं तथा परम्परागत सिद्धान्तो से

---

१ वही, पृ० २२१-२२२। नलविलास के सपा० जी० के० गोन्डेकर एव नाट्यदर्पण के हिन्दी व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर ने उक्त ग्रथो की भूमिका मे रामचन्द्र के ज्ञात ग्रन्थो की कुल सख्या ३९ मानी है।

२ स्थायीभाव श्रितोत्कर्षो विभावव्यभिचारिभि।
स्पष्टानुभावनिश्चेय सुखदु खात्मको रस॥

—हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।७।

३ वही, पृ० ३०६।

कामिराज की प्रार्थना पर शृङ्गारार्णव चन्द्रिका नामक ग्रन्थ की रचना की थी।[१] इसमे इन्होंने कर्नाटक के सुप्रसिद्ध कवि गुणवर्मा का नामोल्लेख किया है।[२] गुणवर्मा का समय ई० सन् १२२५ (वि० स० १२८२) के लगभग माना जाता है।[३] अत विजयवर्णी का समय कर्नाटक-कवि गुणवर्मा के पश्चात् मानना होगा।

'शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका' के प्रारम्भिक भाग से स्पष्ट होता है कि श्री वीर-नरसिंह नामक राजा वगभूमि का प्रशासक था। उनकी राजधानी वगवाटी थी।[४] ई० सन् १२०८ (वि० स० १२६५) मे वीरनरसिंह के पुत्र चन्द्रशेखर वगभूमि के शासक हुए थे, पुन ई० सन् १२२४ मे इनके छोटे भाई पाण्ड्यप्प सिंहासनारूढ हुए। तत्पश्चात् इनकी बहिन विट्ठलादेवी राज्य की सचालिका नियुक्त की गई। इसी क्रम मे ई० सन् १२४४ (वि० स० १३०१) मे विट्ठला देवी के पुत्र कामिराज राजसिंहासन पर आरूढ हुए थे।[५] इन्ही कामिराज की प्रार्थना पर विजयवर्णी ने 'शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका' की रचना की थी, अत विजयवर्णी कामिराज के समकालीन ठहरते हैं तथा उक्त ग्रन्थ की रचना भी इसी के आस-पास होने से ईसा की तेरहवी शती के मध्य मे हुई होगी। विजयवर्णी ने कामिराज को 'गुणार्णव' और 'राजेन्द्रपूजित' ये दो विशेषण दिए है, साथ ही पाण्ड्वग का भागिनेय और महादेवी विट्ठलाम्बा का पुत्र लिखा है।[६] इससे भी दोनो की समकालीनता सिद्ध होती है। अत कामिराज

---

१ इत्थ नृपप्रार्थितेन मयालकारसग्रह।
नियते सूरिणा नाम्ना शृङ्गारार्णवचन्द्रिका॥

—शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, १।२२।

२ गुणवर्मादिकर्नाटककवीना सूक्तिसचय।
वाणीविलास देयात्ते रसिकानन्द दायिनम्॥वही, १।७।

३ तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड ४, पृ० ३०१।

४ शृङ्गारार्णव-चन्द्रिका, १।११-१२।

५ प्रशस्ति सग्रह—के० भुजवली शास्त्री, पृ० ७७-७८।

६ तस्य श्रीपाण्ड्यवगस्य भागिनेयो गुणार्णव।
विट्ठलाम्बा महादेवी पुत्रो राजेन्द्रपूजित॥

—शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, १।१६।

नायक चार प्रभेद, नायक के गुण, नायक के अनुचर, नायिका-भेद, स्त्री की आठ अवस्थाएँ, दस कामावस्थाएं, और कालादि-औचित्यों का विवेचन किया गया है।

मण्डन-मन्त्री

मण्डन का नाम प्राय मण्डन मन्त्री के रूप मे जाना जाता है। ये श्रीमाल[1] वश मे पैदा हुए थे। इनके पिता का नाम बाहड और पितामह का नाम झांझड़ था। ये बडे प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् और राजनीतिज्ञ थे। श्रीमन्त कुल मे उत्पन्न होने के कारण उनमे लक्ष्मी एव सरस्वती का अभूतपूर्व मेल था। ये उदार और दयालु प्रकृति के थे। अल्पवय मे ही मण्डन मालवा मे मांडवगढ़ के बादशाह होशग के कृपापात्र बन गये थे और कालान्तर मे उनके प्रमुख मन्त्री बने। सम्राट होशग इनकी विद्वत्ता पर मुग्ध थे। राजकार्य के अतिरिक्त बचे समय को मण्डन विद्वत्-सभाओ मे ही व्यतीत करते थे। ये प्रत्येक विद्वान् और कवि का बहुत सम्मान करते थे तथा उनको भोजन-वस्त्र एव योग्य पारितोषिक आदि देकर उनका उत्साहवर्धन करते थे। मण्डन संगीत के विशेष प्रेमी थे। इसके अतिरिक्त वे ज्योतिष, छन्द, अलंकार, न्याय, व्याकरण आदि अन्य विद्याओ मे भी निपुण थे। मण्डन की विद्वत्सभा मे कई विद्वान् एवं कुशल कवि स्थायी रूप से रहते थे, जिनका समस्त व्यय वह स्वय वहन करते थे। मण्डन के द्वारा लिखे एव लिखवाये गये ग्रन्थो की प्रतियो मे प्रदत्त प्रशस्तियो से ज्ञात होता है कि मण्डन विक्रम की पन्द्रहवी शताब्दी तक जीवित थे।[2]

मण्डन ने अनेक ग्रन्थो की रचना की है जिनमे से निम्न ग्रन्थ प्रकाश में आए हैं—(१) कादम्बरी दर्पण, (२) चम्पूमण्डन, (३) चन्द्रविजयप्रबन्ध,

---

१ श्रीमद्धन्यजिनेन्द्रनिर्भरतते श्रीमालवंशोन्नते
श्रीमद्बाहडनन्दनस्य दधत श्रीमण्डनाख्या कवे ।
काव्येकौरवपाण्डवोदयकथारम्ये कृतौ सद्गुणे
माधुर्यं पृथु काव्यमण्डन इते सर्गोऽयमाद्योऽभवत् ॥
—काव्यमण्डन, प्रथम सर्ग—अन्तिम प्रशस्ति।

२ श्री यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ, 'मन्त्रीमंडन और उनका गौरवशाली वंश' —पृ० १२८, १३४।

(४) अलंकारमण्डन, (५) काव्यमण्डन, (६) शृङ्गारमण्डन, (७) संगीतमण्डन, (८) उपसर्ग-मण्डन, (९) सारस्वतमण्डन, (१०) कविकल्पद्रुम[1]।

अलंकारमण्डन

प्रस्तुत कृति मण्डन मन्त्री की अलंकार विषयक रचना है। इसमें उन्होंने अलंकार-शास्त्रीय विषयों का समावेश किया है, जो नाम से ही स्पष्ट है।

अलंकार-मण्डन पाँच परिच्छेदों मे विभाजित है। इसके प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण, उसके प्रकार और रीतियों का निरूपण है। द्वितीय परिच्छेद मे दोषों का वर्णन है। तृतीय परिच्छेद में गुणों का स्वरूप-दर्शन है। चतुर्थ परिच्छेद मे रसो का निदर्शन है। पंचम परिच्छेद मे अलंकारों का विवरण है।[2]

भावदेवसूरि

आचार्य भावदेवसूरि प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे। उनका समय ई०स० की चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और पन्द्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध प्रतीत होता है, क्योंकि इन्होंने पार्श्वनाथ-चरित की रचना वि०सं० १४१२ मे श्रीपत्तन नामक नगर मे की थी, जिसका उल्लेख पार्श्वनाथ-चरित की प्रशस्ति में किया गया है।[3] भावदेवसूरि के गुरु का नाम जिनदेवसूरि था।[4] ये कालिकाचार्य सन्तानीय खंडिल्लगच्छ की परम्परा के आचार्य थे।[5]

आचार्य भावदेवसूरि ने अलंकार विषयक 'काव्यालंकारसारसंग्रह' के अतिरिक्त और कितने तथा कौन-कौन से ग्रन्थों की रचना की है, यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि इन ग्रन्थों मे परस्पर एक दूसरे का कहीं भी

---

१ श्री यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ, 'मंत्रीमण्डन और उनका गौरवशाली वंश', पृ० १३३।

२ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ११८।

३ तेषां विनेयविनयी बहु भावदेव सूरि प्रसन्न जिनदेवगुरुप्रसादात्।
श्रीपत्तनाख्यनगरे रवि विश्ववर्षे पार्श्वप्रभोश्चरितरत्नमिदं ततान ॥
—पार्श्वनाथ-चरित, प्रशस्ति, १४।

४ वही।

५. आसीत् स्वामिसुधर्मसन्ततिभवो देवेन्द्रवन्द्यक्रम,
श्रीमान् कालिकसूरिरद्भुतगुण ग्रामाभिराम पुरा।
जीयादेष तदन्वये जिनपति-प्रासाद तुंगाचल,
भ्राजिष्णुर्मुनिरत्नगौरवनिधि खण्डिल्लगच्छाम्बुधि ॥ वही, प्रशस्ति, ४।

उल्लेख नही है, किन्तु 'पार्श्वनाथ-चरित'[1] 'जइदिणचरिया (यति-दिन-चर्या)'[2] और 'कालिकाचार्यकथा'[3] नामक ग्रन्थो मे कालिकाचार्य-सन्तानीय भावदेवसूरि का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, अत यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त ग्रन्थों के रचयिता प्रस्तुत भावदेवसूरि ही होगे। उपर्युक्त समय निर्धारण उनके 'पार्श्वनाथ-चरित' के आधार पर किया गया है।

अगरचन्द नाहटा के एक लेख[4] से ज्ञात होता है कि भावदेवसूरि पर एक रास की रचना की गई है, जिसमे उनके शीलदेव आदि १८ स्थविर शिष्यों का उल्लेख है। रास मे यह भी कहा गया है कि स० १६०४ मे भावदेवसूरि को प्रसिद्धि प्राप्त हुई थी। इसके अतिरिक्त उक्त लेख से यह भी ज्ञात हुआ है कि अनूप सस्कृत लाइब्रेरी मे सूरि जी के शिष्य मालदेव रचित 'कल्पान्तर्वाच्य' नामक ग्रन्थ की प्रति उपलब्ध है जिसकी रचना स० १६१२ या १४ मे की गई है, उसकी प्रशस्ति के एक पद्य[5] मे कालकाचरित का उल्लेख है इत्यादि। उक्त रास के नायक भावदेवसूरि को स० १६०४ मे प्रसिद्धि प्राप्त हुई थी तथा 'पार्श्वनाथ-चरित' के रचयिता भावदेवसूरि ने 'पार्श्वनाथचरित' की रचना स० १४१२ मे की है। इन दोनो तिथियो मे पर्याप्त अन्तराल है। अत उक्त दोनो आचार्यों को एक ही मानना युक्ति सगत प्रतीत नही होता है। सम्भव है प्रशस्ति बाद मे जोडी गई हो और लिपिकार ने भावदेवसूरि की प्रसिद्धि के कारण प्रमादवशात् कालकाचरित का उल्लेख करने वाले उक्त पद्य का समावेश कर दिया हो।

---

१ पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति, ५,१४।

२ सिरीकालिकसूरीणं वसुव्यव भावदेवसूरीहिं।
सकलिया दिणचरिया एसा योवमइजग(ई) जोग्गा ॥
—यति दिनचर्या–प्रान्ते, गा० १५४ (अलकार-महोदधि, प्रस्तावना, पृ० १७)।

३ तत्पादपद्ममधुपा' विज्ञा श्रीभावदेवसूरीणा।
श्री कालकाचरित पुन कृत यै स्वर्गी पुर्त्यै ॥
—जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १४, किरण २, पृ० ३८।

४ 'भावदेवसूरि एव लाहौर के सुलतान सम्बन्धी विशेष ज्ञातव्य'—यह लेख जैन सिद्धान्त-भास्कर भाग १४, किरण २ के ३७ पृष्ठ पर प्रकाशित है।

५ तत्पादपद्ममधुपा —स्वर्गी' पूर्त्यै। —जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १४, किरण २, पृ० ३८।

काव्यालंकारसार-संग्रह

आचार्य भावदेवसूरि विरचित 'काव्यालंकारसार-संग्रह' नामक ग्रन्थ संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण है। इसमे आचार्य भावदेवसूरि ने प्राचीन ग्रन्थो से सारभूत तत्त्वो को ग्रहण कर संग्रहीत किया है।[1] यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है, जिसकी विषयवस्तु निम्न प्रकार है—

प्रथम अध्याय मे काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु और काव्य-स्वरूप का निरूपण किया गया है।

द्वितीय अध्याय मे मुख्य, लाक्षणिक और व्यंजक नामक तीन शब्द-भेद, उनके अभिधा, लक्षणा और व्यजना नामक तीन अर्थभेद तथा वाच्य, लक्ष्य और व्यग्य नामक तीन व्यापारो का सक्षेप मे विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय मे श्रुतिकटु, च्युतसस्कृति आदि ३२ पद-दोषो का निरूपण किया गया है। ये ३२ दोष वाक्य के भी होते हैं। तत्पश्चात् अपुष्टार्थ-कष्ट आदि आठ अर्थदोषो का नामोल्लेख कर किंचित् विवेचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय मे सर्वप्रथम वामन सम्मत दस गुणो का विवेचन कर भामह और आनन्दवर्धन सम्मत तीन-गुणो का विवेचन किया गया है। पुन शोभा, अभिधा, हेतु, प्रतिषेध, निरुक्ति, युक्ति, कार्य और सिद्धि नामक आठ काव्य-चिन्हो का विवेचन किया है।

पचम अध्याय में वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास नामक छ शब्दालंकारो का सोदाहरण निरूपण किया है।

षष्ठ अध्याय मे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि ५० अर्थालंकारो का विवेचन किया गया है।

सप्तम अध्याय मे पांचाली, लाटी, गोडी और वैदर्भी नामक चार रीतियो का निरूपण किया है।

अष्टम अध्याय मे भाव, विभाव, अनुभाव आदि का मात्र नामोल्लेख है।

पद्मसुन्दरगणि

श्वेताम्बर जैन विद्वान् पं० पद्मसुन्दरगणि नागौरी तपागच्छ के प्रसिद्ध

---

१ आचार्य भावदेवेन प्राच्यशास्त्र महोदधे।
आदाय साररत्नानि कृतो अलंकार-सग्रह ॥
—काव्यालंकारसार-संग्रह, ८/८

भट्टारक यति थे। इनके गुरु का नाम पद्ममेरु और प्रगुरु का नाम आनन्दमेरु था। पद्मसुन्दरगणि को मुगल बादशाह अकबर की सभा में बहु-सम्मान प्राप्त था। उनकी परम्परा के परवर्ती भट्टारक यति 'हर्षकीर्तिसूरि' की 'धातुतरंगिणी' के पाठ से ज्ञात होता है कि उन्होने बादशाह अकबर की सभा मे किसी महा-पण्डित को पराजित किया था, जिसके सम्मान स्वरूप उन्हे बादशाह अकबर की ओर से रेशमी वस्त्र, पालकी और ग्राम आदि भेंट मे प्राप्त हुए थे, वे जोध-पुर के हिन्दू नरेश मालवदेव द्वारा सम्मानित थे।[1] इतना ही नही इनके गुरु पद्ममेरु और प्रगुरु आनन्दमेरु को क्रमश अकबर के पिता हुमायूं और पितामह बाबर की राजसभा मे प्रतिष्ठा प्राप्त थी।[2]

पद्मसुन्दरगणि ने (अकबरसाहि)-शृङ्गार दर्पण की रचना वि० स०१६२६ के आसपास की है तथा श्वेताम्बराचार्य हीरविजय की बादशाह अकबर से भेंट वि० स० १६३६ में हुई थी, उस समय पद्मसुन्दरगणि का स्वर्गवास हो चुका था।[3] अत पद्मसुन्दरगणि का समय विक्रम की १७वी (ईसा की १६वीं का उत्तरार्ध) शताब्दी मानना उपयुक्त होगा।

पद्मसुन्दरगणि ने साहित्य, नाटक, कोष, अलकार, ज्योतिष और स्तोत्र विषयक अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्वान् राय-मल्ल से उनकी प्रगाढ़ मैत्री थी। इसलिए उन्होने कुछ ग्रन्थो की रचना राय-मल्ल के अनुरोध पर भी की है। उनके प्रमुख ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं—राय-मल्लाभ्युदयकाव्य, यदुसुन्दर महाकाव्य, पार्श्वनाथचरित, जम्बूचरित, राज-

---

१ साहे ससदि पद्मसुन्दरगणिर्जित्वा महापण्डित,
क्षौमग्राम-सुखासनाअकबर श्रीसाहितो लब्धवान्।
हिन्दूकाधिपमालदेवनृपतेर्मान्यो वदान्योधिक,
श्रीमद्योधपुरे सुरेप्सितवच पद्माह्वय पाठकम्॥
—जैन साहित्य और इतिहास —नाथूराम प्रेमी, पृ० ३६५ का सन्दर्भ।

२ मान्यो बाप (ब) र भूभुजोऽत्र जयराट् तद्वत् हुमाऊं नृपो-
त्यर्थ प्रीतिमना सुमान्यमकरोदानंदरायाभिध।
तद्वत्सा हि शिरोमणेरकबरक्ष्मापाल - चूडामणे-
र्मान्य पंडितपद्मसुन्दर इहाभूत पंडितव्रातजित्॥
—अकबरसाहि-शृङ्गारदर्पण-भूमिका, पृ० २०।

३ जैनसाहित्य और इतिहास, पृ० ३९६।

प्रश्नीय काव्यपदसंजिका, परमतव्यवच्छेदस्याद्वादद्वात्रिंशिका, प्रमाणसुन्दर, सारस्वतरूपमाला, सुन्दरप्रकाशशब्दार्णव, हायन-सुन्दर, षड्भाषागर्भितनेमि-स्तव, वरमंगलिकास्तोत्र, भारतीस्तोत्र, भविष्यदत्तचरित और ज्ञान-चन्द्रोदय नाटक आदि। डॉ० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने इनकी केवल दो ही रचनाओं का उल्लेख किया है। भविष्यदत्त-चरित और रायमल्लाभ्युदय महाकाव्य।[1] जबकि पं० नाथूराम प्रेमी[2] और डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी[3] ने इनकी अन्य कृतियो का भी सप्रमाण उल्लेख किया है।

अकबरसाहि शृंगार दर्पण

प्रस्तुत अलकारशास्त्र विषयक ग्रन्थ मुगल बादशाह अकबर की प्रशंसा में रचा गया है। इसके प्रत्येक उल्लास के अन्त में अकबर प्रशस्ति-पद्यों की रचना की गई है। अकबरसाहिशृङ्गार-दर्पण की तुलना दशरूपक और नाट्य-दर्पण से की जा सकती है, क्योंकि इसमे नाट्यशास्त्रीय तत्वो का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। चार उल्लासो मे विभाजित इस ग्रन्थ में कुल ३४५ पद्य हैं।

प्रथम उल्लास मे कवि ने सर्वप्रथम आठ पद्यों मे अकबर के पूर्वजों तथा अकबर का विरुदगान किया है। पुन नवरस, स्थायीभाव गणना, रस-लक्षण तथा व्यभिचारी भावो और सात्विक भावो की संख्या का निर्देश किया है। शृंगाररस स्वरूप, उसके भेद-प्रभेदो का सोदाहरण निरूपण, नायक-स्वरूप, सलक्षणोदाहरण नायक-भेद, नर्मसचिव-स्वरूप, उसके पीठमर्द, विट और विदूषक इन तीन भेदो का निरूपण, नायिका-स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद आदि का सोदाहरण वर्णन किया गया है।

द्वितीय उल्लास मे परकीया के दो भेद बतलाये गये हैं—कन्या और ऊढा। पुन परवधू द्वारा नायक के अनेक प्रकार से दर्शनों का अनुभव करने का उल्लेख है। तत्पश्चात् अन्यदीयकन्या-स्वरूप, मुग्धा (नायिका) चेष्टा, उद्धतमन्मथा, दु खसंस्था, पणांगना तथा स्वाधीनपतिका, उत्का, वासकसज्जिका अभिसन्धिता, विप्रलब्धा, खण्डिता, अभिसारिका एवं प्रोषितपतिका इन आठ नायिका भेदों के सोदाहरण लक्षण दिए हैं। इसी क्रम मे उत्तम, मध्यम और अधम नायिकाओं का सलक्षणोदाहरण निरूपण किया गया है।

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड ४, पृ० ८३।

२. द्रष्टव्य—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३९६–३९७।

३ द्रष्टव्य—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ६७।

तृतीय उल्लास मे विप्रलम्भ शृङ्गार के चार भेद—पूर्वानुराग, मानात्मा, प्रवास और करुण, काम की दस अवस्था—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-कीर्तन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडत्व और मरण, शृंगाराभास, परस्त्रीसंगमोपाय मान के तीन भेद—गुरु, मध्य और लघु, मानिनी नायिका को मनाने के छ उपाय—साम, दान, भेद, उपेक्षा, प्रणति और प्रसन्न विभ्रम आदि का विवेचन किया गया है। पुन पति के लिए अनुराग पूर्वक तथा अप्रीतिपूर्वक प्रयुक्त नामो का उल्लेख किया गया है। अन्त मे प्रवास विषयक वर्णन है।

चतुर्थ उल्लास मे सर्वप्रथम विप्रलम्भ के चतुर्थ भेद करुण का सलक्षणोदाहरण विवेचन किया गया है। पुन प्रतिवेश्मा, नटी, चेटी, कारु, धात्री, शिल्पिनी, बाला और तपस्विनी आदि नायिका की सखियो (सहायिकाओ) के नाम, उनके गुण तथा कौतुक, मण्डन, रक्षा, उपालम्भ, प्रसादन, सहयोग और विरह मे आश्वासन आदि सखियो के कार्यों का उल्लेख, हास्य, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्तरस का सभेद स्वरूप, उदाहरण तथा उनके अनुभाव आदि का वर्णन विरोधी रस समावेश और शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, भयानक तथा अद्भुत रस मे पाये जाने वाले भावो का पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है। तत्पश्चात् कौशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती इन चार रीतियो का निरूपण किया गया है। इसी क्रम मे काव्य दूषण, प्रत्यनीक-रस, विरस, दुसन्धानरस, नीरसकाव्य, दुष्टपात्र आदि का वर्णन किया गया है।

सिद्धिचन्द्रगणि

सिद्धिचन्द्रगणि अपने समय के महान् टीकाकार और साहित्यकार थे। ये तापगच्छीय उपाध्याय भानुचन्द्रगणि के शिष्य थे। भानुचन्द्रगणि और सिद्धिचन्द्रगणि को मुगल बादशाह अकबर के दरबार में समान रूप से सम्मान प्राप्त था। सिद्धिचन्द्रगणि शतावधानी थे। उनके प्रयोग देखकर बादशाह अकबर ने 'खुशफहम' (तीक्ष्ण बुद्धि) की मानप्रद उपाधि प्रदान की थी,[1] जिसकी पुष्टि उनके द्वारा रचित प्रत्येक ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति से होती

१ जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ५५४।

है[1] । इन प्रशस्तियो से यह भी ज्ञात होता है कि इन्होंने अपने प्रभाव के द्वारा शत्रुंजय तीर्थ पर लगे हुए कर को माफ कराया था तथा सिद्धाचल पर्वत पर मंदिर निर्माण कार्य में बाधक राजकीय निषेधाज्ञा को भी हटवाया था ।

सिद्धिचन्द्रगणि अपने गुरु भानुचन्द्रगणि के अनेक साहित्यिक अनुष्ठानों के सहयोगी थे[2] । बाणभट्ट रचित कादम्बरी पर अपने गुरु के साथ लिखी गई इनकी टीका सर्वाधिक प्रसिद्ध है[3] । इस टीका के अध्ययन से इनके कोश विषयक ज्ञान का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है, ये छ. शास्त्रो के ज्ञाता तथा फारसी के अध्येता थे[4] ।

सिद्धचन्द्रगणि ने धातुमंजरी नामक ग्रन्थ की रचना वि० सं० १६५० (ई० सन् १५९३)[5] और काव्यप्रकाश-खण्डन की रचना वि० स० १७०३ (ई० सन् १६४६)[6] मे की थी तथा वासवदत्ता की टीका सवत् १७२२ (ई० सन् १६६५)[7] में की थी । अत इनका साहित्यिक-काल उक्त तिथियो के मध्य मानना होगा । इतना लम्बा साहित्यिक काल इनके दीर्घजीवी होने का पुष्ट प्रमाण है ।

---

१ कादम्बरी-टीका उत्तरार्द्ध की अन्तिम प्रशस्ति निम्न प्रकार है—इति श्रीपादशाहश्रीअकबरजलालदीनसूर्यसहस्रनामाध्यापकश्रीशत्रुंजयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृत विधायकमहोपाध्यायश्रीभानुचन्द्रगणिस्तच्छिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधकप्रमुदितपादशाहश्रीअकबरप्रदत्तखुष्फहम मापराभिधानमहोपाध्यायश्रीसिद्धिचन्द्रगणिविरचितायां कादम्बरीटीकायुत्तरखण्डटीका समाप्ता ।
—भानुचन्द्रगणिचरित—सिद्धिचन्द्रकृतग्रन्थ प्रशस्त्यादि, पृ० ५८ ।

२ जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास, पृ० ५५४ ।

३ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० २१९ ।

४. कर्ता शतावधानानां विजेतोन्मत्तवादिनाम् ।
वेत्ता षडपि शास्त्राणामध्येता फारसीमपि ॥
—(भक्तामरस्तोत्रवृत्ति,) भानुचन्द्रगणिचरित, पृ० ५९ ।

५. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ४५ ।

६ संवत् १७०३ वर्षे आश्विन शुदि ५ गुरो लिखितम्—काव्यप्रकाश-खण्डन, पृ० १०१ । भानुचन्द्रगणि चरित संग्रहीत काव्यप्रकाश खण्डन की प्रशस्ति में लेखन काल संवत् १७२२ लिखा है । —भानुचन्द्रगणि चरित, पृ० ६२ ।

७ वही, पृ० ६१ ।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है कि सिद्धिचन्द्रगणि एक महान् टीकाकार और साहित्यकार थे। इन्हे व्याकरण-न्याय और साहित्य-शास्त्र का ठोस ज्ञान था। जिसकी पुष्टि उनके द्वारा रचे गये साहित्य से होती है। सूक्ति-रत्नाकर इनके गहन अध्ययन और पाण्डित्य का द्योतक है। उनके द्वारा विरचित अद्यावधि ज्ञात ग्रन्थो की सख्या १६ है, जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—कादम्बरी उत्तरार्द्ध टीका, शोभनस्तुति टीका, वृद्धप्रस्तावोक्ति-रत्नाकर, भानुचन्द्र-चरित, भक्तामरस्तोत्र-वृत्ति, तर्कभाषा-टीका, जिनशतक-टीका, वासवदत्ता-टीका, काव्य-प्रकाश-खण्डन, अनेकार्थोपसर्ग-वृत्ति, धातुमजरी, आख्यातवाद-टीका, प्राकृत-सुभाषित संग्रह, सूक्तिरत्नाकर, मगलवाद, सप्तस्मरणवृत्ति, लेखलिखनपद्धति और सक्षिप्त कादम्बरी कथानक[1]। इसके अतिरिक्त काव्यप्रकाश खण्डन में काव्य-प्रकाश पर लिखी गई गुरु नामक बृहद् टीका का भी उल्लेख मिलता है[2]।

काव्यप्रकाशखण्डन

आचार्य मम्मट विरचित काव्यप्रकाश का सीधा सीधा अर्थ लगाना ही दुष्कर है, पुन उसका खण्डन करना तो और भी अतिदुष्कर है। किन्तु आचार्य सिद्धिचन्द्रगणि ने काव्यप्रकाश का खण्डन कर अपनी प्रखर बुद्धि का मेरुदण्ड स्थापित किया है। इन्होने काव्यप्रकाश के उन्ही स्थलों का खण्डन किया है, जिनमे उनकी असहमति थी। प्रस्तुत रचना के कारणो पर प्रकाश डालते हुए मुनि जिनविजय ने लिखा है कि—'महाकवि मम्मट ने काव्य-रचना विषयक जो विस्तृत विवेचन अपने विशद ग्रन्थ मे किया है, उसमे से किसी लक्षण, किसी उदाहरण, किसी प्रतिपादन एव किसी निरसन सम्बन्धी उल्लेख को सिद्धिचन्द्रगणि ने ठीक नही माना है और इसलिये उन्होने अपने मन्तव्य को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत रचना का निर्माण किया[3]। अत इस ग्रन्थ के अध्ययन से उनकी नवीन मान्यताओ पर प्रकाश पड़ता है, जिनमे वैराग्य की झलक दृष्टिगोचर होती है।

काव्यप्रकाश-खण्डन काव्यप्रकाश की तरह दस उल्लासो म विभक्त है। इसमे प्रत्येक उल्लास के विषय का उसी क्रम मे खण्डन किया गया है, जिस

१ भानुचन्द्रगणिचरित—इन्ट्रोडक्शन, पृ० ७१-७४।
२ अस्मत्कृतबृहट्टीकातोऽवसेय (पृ० ३) गुरुनाम्ना बृहट्टीकात, पृ० ६४।
३ काव्यप्रकाश-खण्डन—किंचित् प्रास्ताविक, पृ० ३।

क्रम से आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश मे विषय-वस्तु का गुम्फन किया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सिद्धिचन्द्रगणि ने उन्ही विषयो का खण्डन किया है, जिनमें उनकी असहमति है।

प्रथम उल्लास मे सर्वप्रथम 'नियतिकृत नियमरहिता—'। इत्यादि मंगलाचरण का खण्डन किया है, जिसमे यह कहा गया है कि कवि की सृष्टि मे भी छन्द, रस, रीति, भाषा और उपमान का बन्धन होता है तथा काव्य सुख-दुःख और मोहात्मक स्वरूप वाला ही सम्भव है। इसी प्रकार काव्य की चतुर्वर्ग का साधन स्वीकार करते हुए यश-प्राप्ति आदि काव्य प्रयोजनों का खण्डन किया है। पुन काव्य-स्वरूप का खण्डन कर विश्वनाथ के 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' इस काव्य-स्वरूप का समर्थन किया है। अन्त मे रसवादियो द्वारा मान्य काव्य के चित्र-भेद नामक तृतीय भेद का खण्डन किया है।

द्वितीय उल्लास मे व्यजना का खण्डन करके महिमभट्ट आदि की तरह द्वितीयार्थ की प्रतीति अनुमान के द्वारा स्वीकार की है।

तृतीय उल्लास मे आर्थी-व्यजना के कुछ भेदो का उल्लेख कर खण्डन किया है।

चतुर्थ उल्लास मे शृ गार, वीर, हास्य और अद्‌भुत इन चार रसो को स्वीकार करते हुए, शेष करुणादि रसों का खण्डन किया गया है। जिसमे बतलाया है कि करुण के मूल मे शोक होने से रस नही है। बीभत्स में मांस-पूय आदि की उपस्थिति से वमन आदि नही होता है यही आश्चर्य है, पुन परमानन्द रूप रस कहाँ सम्भव है। इसी प्रकार भय मे रसास्वादन कहाँ? शान्त के मूल में सर्व विषयो का अभाव होने से रस नहीं है तथा वीर और रौद्र मे विभावादि साम्य के कारण अभेद होने से रौद्र को पृथक् रस नही माना है।

पंचम उल्लास में गुणीभूत व्यंग्य-काव्य के भेदों का उल्लेख प्रस्तुत कर समीक्षा की है।

षष्ठ उल्लास मे चित्रकाव्य के शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र इन दो भेदो का समर्थन किया है।

सप्तम उल्लास मे दोष-स्वरूप का खण्डन करते हुए दो दोषों को स्वीकार किया है—(१) कथनीय का अकथन, और (२) अकथनीय का कथन। पुन विषय के स्पष्टीकरण हेतु दोषो का पृथक्-पृथक् नामोल्लेख कर कुछ दोषो का

पूर्व दोषो मे अन्तर्भाव किया है तथा कुछ का नवीनो के मत को प्रस्तुत करते हुए खण्डन किया है। अर्थदोषों का अन्तर्भाव पूर्वोक्त पदादि दोषों मे किया गया है। अन्त मे रसदोषो का उल्लेख किया है। इस प्रसग मे भी खण्डन-शैली पूर्वोक्त प्रकार है।

अष्टम उल्लास मे सर्वप्रथम गुण और अलकारो का भेद प्रदर्शन किया गया है। गुण-स्वरूप प्रसंग मे नवीनो के अनुसार रस के उत्कर्षाधायक हेतु रसधर्म को स्वीकार किया है। पुन माधुर्यादि तीन गुणो का विवेचन कर वामन सम्मत दस गुणो का उल्लेख किया है तथा रसोत्कर्षक होने से दस शब्द-गुणो को स्वीकार किया है। इसी प्रकार दस अर्थगुणों का भी समर्थन किया है और नवीनो के मत को उद्धृत करते हुए आस्वाद के हेतु भूत गुणो का अपलाप करने वाले काव्यप्रकाशकार का खण्डन किया है।

नवम उल्लास मे शब्दालकारो का विवेचन किया गया है।

दशम उल्लास मे अर्थालकारो का विवेचन किया गया है। जिसमे कतिपय अलकारो का विभिन्न अलकारो के अन्तर्गत समावेश किया गया है। यथा-व्याघात का विरोध मे अन्तर्भाव आदि।

अप्रकाशित (अमुद्रित), अनुपलब्ध एवं टीका ग्रन्थ

कविशिक्षा—यह आचार्य बप्पभट्टसूरि (वि० सं० ८००-८९५) की कृति है। जो अद्यावधि अनुपलब्ध है[१]।

कल्पलता—यह वि० सं० १२०५ से पूर्व रचित अम्बाप्रसाद की कृति है[२]।

कल्पलता-पल्लव—(सकेत) यह अम्बाप्रसाद की अपनी कृति कल्पलता पर रचित कल्पपल्लव नामक टीका है[३]।

कल्पपल्लवशेष-विवेक—यह भी अम्बाप्रसाद की अपनी कृति कल्पलता पर पर स्वोपज्ञ टीका है[४]।

---

१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १०० ।
२ वही, पृ० १०३ ।
३ वही, पृ० १०५ ।
४ वही, पृ० १०५ ।

२ | कवि और काव्य

कवि

जिस काव्य के रसास्वादन से सहृदय को अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है, उस काव्य के रचयिता अर्थात् कवि का स्वरूप क्या है ? इसकी जिज्ञासा का होना स्वाभाविक है। इस विषय मे अलकार-शास्त्रियो ने दो प्रकार से विचार व्यक्त किए हैं। प्रथम कोटि मे वे लोग आते हैं जिन्होने कवि का स्वरूप स्पष्ट रूप से लिख दिया है —जैसे आचार्य राजशेखर विनयचन्द्रसूरि, विजयवर्णी एव अजितसेन आदि। द्वितीय कोटि मे वे लोग आते है जिन्होने काव्य-कारण के व्याज से कवि-स्वरूप का निरूपण किया है—जसे आचार्य भामह, दण्डी, मम्मट, वाग्भट-प्रथम, हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि, वाग्भट द्वितीय एव भावदेवसूरि आदि।

अलकार सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य भामह ने कवि का स्वरूप स्पष्ट रूप से न कहकर काव्य-कारण के व्याज से कहा है। उन्होने लिखा है कि—व्याकरण, छन्द, अभिधान (कोश) अर्थ, इतिहास के आश्रित कथाएँ, लोक व्यवहार, तर्कशास्त्र और कलाओ का काव्य-रचना के लिये कवि को मनन करना चाहिए[1]। यह सम्पूर्ण विवेचन व्युत्पत्ति के अन्तर्गत आता है, अत जिस व्यक्ति को उपर्युक्त विषयो का ज्ञान हो वह अभ्यास के माध्यम से कविता कर सकता है अर्थात् वह कवि है। राजशेखर ने 'कवृ वर्णने' धातु से कवि की उत्पत्ति मानी है, जिसका अर्थ होता है वर्णन-कर्त्ता अर्थात् जो वर्णन करे वह कवि कहलाता है[2]। इसके अतिरिक्त उन्होने अन्यत्र लिखा है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति से युक्त कवि, कवि कहलाता है[3]। आचार्य दण्डी ने काव्य-सम्पदा के कारणो के व्याज से कवि की योग्यता का परिचय देते हुए लिखा है कि—

---

१ काव्यालकार, भामह, १।९।

२ काव्यमीमासा, पृ० १७।

३. प्रतिभाव्युत्पत्तिमाश्च कवि कविरित्युच्यते। —काव्यमीमांसा, पृ० ४३।

स्वभावोत्पन्न प्रतिभा, अत्यन्त निर्मल श्रुताध्ययन और उसकी बहु-योजना ही काव्य-सम्पदा है[1] अर्थात् दण्डी के अनुसार प्रतिभा और श्रुताभ्यास ये दोनों कवि मे होना अनिवार्य है । आचार्य मम्मट ने यद्यपि कवि के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं लिखा है तथापि काव्य-कारण के व्याज से उन्होंने कवि की योग्यता अवश्य कह दी है । तदनुसार हम कह सकते हैं कि स्वाभाविक प्रतिभा (शक्ति), लौकिकशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के पर्यालोचन से उत्पन्न निपुणता एवं काव्य-रचना को जानने वाले गुरु की देख-रेख में काव्य निर्माण का अभ्यास इन तीन गुणो से युक्त व्यक्ति कविता करने की योग्यता रखता है[2] अर्थात् वह कवि कहलाने का अधिकारी है ।

इस प्रसग मे जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने यद्यपि कवि का स्वरूप स्पष्ट नहीं कहा है तथापि वे काव्य-कारण के व्याज से प्रतिभा को ही कवि की योग्यता मानते हैं[3] । इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने भी काव्य-कारण के व्याज से प्रतिभा को ही कवि की योग्यता स्वीकार किया है[4] अर्थात् कवि वह है जो प्रतिभावान् हो । इसके समर्थन मे उन्होंने भट्टतौत के काव्यकौतुक से उद्धरण देते हुए लिखा है कि—नवीन-नवीन अर्थों के उन्मेषक प्रज्ञाविशेष का नाम प्रतिभा है तथा उससे अनुप्राणित वर्णन करने मे निपुण कवि कहलाता है[5] । आचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी काव्य-कारण के व्याज से कवि-स्वरूप का निरूपण करते हुए कवि मे प्रतिभा का होना आवश्यक माना है[6] । इसके समर्थन मे उन्होंने भी भट्टतौत के काव्य कौतुक से उक्त उद्धरण प्रस्तुत किया है[7] । विनयचन्द्रसूरि ने कवि की परिभाषा करते हुए लिखा है कि—शब्द और अर्थ को मानने वाला तत्त्वो का ज्ञाता, माधुर्य, ओज आदि गुणो का साधक, दक्ष,

---

१ काव्यादर्श, १।१०३ ।

२ शक्तिर्निपुणतालोक-शास्त्र काव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।। —काव्यप्रकाश, १।३ ।

३ वाग्भटालकार, १।३ ।

४ काव्यानुशासन, १।४ ।

५ वही, १।३। वृत्ति ।

६ अलकार-महोदधि, १।७ ।

७ प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभा मता ।
तदनुप्राणनाजीवद्वर्णना निपुण कवि ।। —वही, १।७ वृत्ति ।

वाग्मी, नवीन अर्थों का उद्योतक, शब्द, अर्थ और वाक्य के दोषों का ज्ञाता, चित्रकार, कवि-मार्ग का अनुसरण करने वाला, अलंकार और रस का ज्ञाता, छन्दसौष्ठव एवं षड्भाषाओं के नियमो में निष्णात, षड्दर्शनों का ज्ञाता, नित्याभ्यासी, लौकिक वस्तुओं का ज्ञाता और छन्द-शास्त्रज्ञ कवि कहलाता है[1]। कवि की उपर्युक्त परिभाषा में विनयचन्द्रसूरि की मान्यता है कि कवि को सम्पूर्ण विषयों का ज्ञाता होना आवश्यक है, चाहे वे लौकिकहो या अलौकिक, गुण हों या दोष, रस हों या अलकार, व्याकरण हो या दर्शन। नाना विषयों का समावेश ही उसकी पूर्णता है। कवि का इतना स्पष्ट और बृहद् स्वरूप अन्यत्र देखने में नहीं आया है।

आचार्य विजयवर्णी ने कवि-स्वरूप का निरूपण करते हुए लिखा है कि—प्रतिभा-शक्ति सम्पन्न तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास से युक्त अठारह स्थलो का वर्णन करने में निपुण व्यक्ति कवि है अथवा शक्ति, निपुणता और कवि-शिक्षा इन तीनो से युक्त तथा रस-भाव के परिज्ञान रूप गुणो से युक्त कवि है[2]। इस तरह विजयवर्णी ने कवि-स्वरूप का निरूपण दो प्रकार से किया है। लेकिन इनमे पहला प्रकार महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमे प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास और अठारह स्थलों का वर्णन करने की बात कही गई है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाये तो अठारह स्थलो का वर्णन करने की निपुणता रूप कथन का प्रतिभा में ही अन्तर्भाव हो जाता है। परन्तु विजयवर्णी द्वारा निरूपित कवि-स्वरूप में अठारह स्थलो के वर्णन की चर्चा का अपना महत्त्व है। वे अठारह स्थल कौन से हैं? इसका विवेचन करते हुए आचार्य अजितसेन ने लिखा है कि—चन्द्रोदय, सूर्योदय, मंत्र, दूत-सम्प्रेषण, जलक्रीडा, कुमारोदय, उद्यान, समुद्र, नगर, ऋतु, पर्वत, सुरत, युद्ध, प्रयाण, मधुपान, नायक-

---

१ शब्दार्थवादी तत्त्वज्ञो माधुर्योज प्रसादक।
वक्तो वाग्मी नवार्थानामुत्पत्तिप्रियकारक॥
शब्दार्थवाक्यदोषज्ञश्चित्रकृत् कविमार्गवित्।
ज्ञातालंकारमर्मज्ञो रसविद् छन्दसौष्ठवी॥
षड्भाषाविधिनिष्णात षड्दर्शनविचारवित्।
नित्याभ्यासी च लोकज्ञश्छन्द शास्त्रपटिष्ठधी॥

—काव्यशिक्षा, ४।१५३-१५५।

२ शृंगारार्णव-चन्द्रिका, २।१-२।

युक्त खण्डनात्मक शैली में ऐसा तर्क प्रस्तुत नहीं किया है, जो अलंकार-शास्त्रियों को ग्राह्य हो और न ही अपने पक्ष के समर्थन में कोई प्रबल तर्क प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार समस्त काव्य-प्रयोजनों का सम्यक् प्रकार से आलोडन-विलोडन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि जैनाचार्यों ने पूर्व स्वीकृत काव्य-प्रयोजनों को आधार मानकर अपना मत प्रस्तुत किया है तथापि वाग्भट-प्रथम द्वारा मान्य एक मात्र यश रूप प्रयोजन अपनी मौलिकता की छाप छोड़ता है। इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने जो मम्मट-सम्मत छः काव्य-प्रयोजनों में से तीन का सयुक्ति खण्डन कर नवीन विचार प्रस्तुत किया है, वह श्लाघ्य और तथ्य-परक भी है। अत इसका अपलाप नहीं किया जा सकता है।

काव्य-हेतु .

काव्य-रचना में जो हेतु अर्थात् कारण हो वह काव्य-हेतु है। सामान्यतया कारण दो प्रकार के होते हैं—निमित्तकारण और उपादानकारण। प्रस्तुत में निमित्तकारण को ही काव्य-हेतु की सज्ञा दी गई है। इसके अभाव मे काव्य की सर्जना सम्भव नही है।

सर्वप्रथम आचार्य भामह ने काव्य-हेतुओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि गुरु के उपदेश से मूर्ख लोग भी शास्त्रो का अध्ययन करने मे समर्थ हैं, किन्तु काव्य किसी प्रतिभावान् व्यक्ति के ही द्वारा कभी-कभी निर्मित होता है। व्याकरण, छन्द, कोश, अर्थ, इतिहासाश्रित कथाएँ, लोकज्ञान, तर्कशास्त्र और कलाओ का काव्य-सर्जना हेतु मनन करना चाहिए। शब्द और अर्थ का विशेष रूप से ज्ञान करके काव्य-प्रणेताओ की उपासना और अन्य कवियो की रचनाओ को देखकर काव्य-सर्जना में प्रवृत्त होना चाहिए[1]। यहाँ क्रमश प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास का विवेचन किया गया है। भामह ने व्युत्पत्ति

---

१ गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्य तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावत ॥
शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रया' कथा.।
लोको युक्ति कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी ॥
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्य काव्यक्रियादर ॥

—काव्यालंकार, १।५, ६-१०।

और अभ्यास की अपेक्षा प्रतिभा पर अधिक बल दिया है। तात्पर्य यह कि वे प्रतिभा को काव्य का अनिवार्य एवं प्रमुख हेतु मानते हैं। दण्डी स्वाभाविक प्रतिभा, अत्यन्त निर्मल विद्याध्ययन एवं उसकी बहुयोजना को ही काव्य का हेतु मानते हैं[1]। उन्होंने भामह की तरह प्रतिभा पर अधिक बल न देकर तीनों का समान रूप से महत्त्व स्वीकार किया है। किन्तु इसके ठीक आगे उन्होंने लिखा है कि यदि वह अद्भुत प्रतिभा न भी हो तो भी शास्त्राध्ययन (व्युत्पत्ति) और अभ्यास से वाणी अपना दुर्लभ अनुग्रह प्रदान करती है। कवित्व-शक्ति के कृश होने पर भी परिश्रमी व्यक्ति विद्वानों की गोष्ठी में विजय प्राप्त करता है[2]। इससे ज्ञात होता है कि दण्डी प्रतिभा के अभाव में भी मात्र व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा काव्य-रचना स्वीकार करते हैं। आनन्दवर्धन ने प्रतिभा का महत्त्व स्वीकार करते हुए लिखा है कि—उस आस्वाद पूर्ण अर्थतत्त्व को प्रकाशित करने वाली महाकवियों की वाणी अलौकिक स्फुरण-शील प्रतिभा के वैशिष्ट्य को प्रकट करती है।[3] इतना ही नहीं उन्होंने अव्युत्पत्तिजन्य दोष को प्रतिभा के द्वारा आच्छादित होना भी स्वीकार किया है[4] अर्थात् आनन्दवर्धन ने प्रतिभा को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। लोचनकार ने प्रतिभा की व्याख्या करते हुए लिखा है कि अपूर्व वस्तु के निर्माण मे समर्थ प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं[5]। मम्मट ने काव्य-कारण प्रसंग मे लिखा है कि शक्ति, लोक (व्यवहार) शास्त्र तथा काव्य आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न निपुणता और काव्य (की रचना शैली तथा आलोचना पद्धति) को

---

१ नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ॥ —काव्यादर्श, १।१०३ ।

२ न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते ॥
—वही, १।१०४-१०५ ।

३. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति प्रतिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥
—ध्वन्यालोक, १।६ ।

४. अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते ॥ —ध्वन्यालोक, ३।६ वृत्ति ।

५. अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा (प्रतिभा) । —वही, लोचन, पृ० १७१ ।

जानने वाले गुरु की शिक्षा के अनुसार (काव्य-निर्माण) अभ्यास (ये तीनों मिलकर समष्टि रूप से) उस (काव्य) के विकास (उद्भव) के हेतु हैं[1]। मम्मट ने अपने इन काव्य-हेतुओं मे 'हेतु.' इस एकवचन का प्रयोग किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास ये तीनों मिलकर काव्य के उद्भव में हेतु हैं, पृथक् पृथक् नहीं—

'इति त्रयः समुदिताः, न तु व्यस्ताः, तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः[2]।'

जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने प्रतिभा को ही काव्य का हेतु स्वीकार किया है तथा शेष व्युत्पत्ति और अभ्यास को क्रमशः विशेष शोभाजनक और शीघ्र काव्य निर्माण मे सहायक कहा है[3]। पुनः तीनों का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—प्रसादादि गुणो वाले रमणीय पदों से नवीन अर्थ की उद्भावना करने में समर्थ सत्कवि की सर्वतोमुखी बुद्धि का नाम प्रतिभा है। गुरु-परम्परा से प्राप्त व्याकरणादि शास्त्रों के असाधारण ज्ञान का नाम व्युत्पत्ति है तथा गुरु के समीप में बैठकर निरन्तर अबाध गति से काव्य-रचना करने का नाम अभ्यास है।[4] इसमें अभ्यास के प्रकारो मे बतलाया गया है कि काव्य-रचना हेतु सर्व-प्रथम रमणीय सन्दर्भ का निर्माण करते हुए अर्थशून्य पदावली के द्वारा समस्त छन्दो को वश मे कर लेना चाहिये।[5] आचार्य हेमचन्द्र ने केवल प्रतिभा को ही काव्य

---

१ शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ —काव्यप्रकाश, १।३।

२ वही, १।३। वृत्ति।

३ प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा ॥ —वाग्भटालंकार, १।३।

४ प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्त्युद्बोधविधायिनी।
स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी ॥
शब्दधर्मार्थकामादिशास्त्रेष्वाम्नायपूर्विका।
प्रतिपत्तिरसामान्या व्युत्पत्तिरभिधीयते ॥
अनारतं गुरूपान्ते यः काव्ये रचनादरः।
तमभ्यासं विदुस्तस्य क्रमः कोऽप्युपदिश्यते ॥ —वही, १।४-६।

५. बिभ्रत्या बन्धचारुत्वं पदावल्यार्थशून्यया।
वशीकुर्वीत काव्याय छन्दांसि निखिलान्यपि ॥ —वही, १।७।

का हेतु स्वीकार किया है[1] तथा प्रतिभा को ही काव्य का प्रधान कारण माना है, और व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा के ही संस्कारक कहा है।[2] प्रतिभा दो प्रकार की होती है—सहजा और औपाधिकी। आवरण क्षयोपशम मात्र से होने वाली सहजा और मन्त्रादि से उत्पन्न होने वाली औपाधिकी कहलाती है।[3] राजशेखर ने सर्वप्रथम प्रतिभा के दो भेद किए हैं—कारयित्री और भावयित्री। पुनः कारयित्री के तीन भेद माने हैं—सहजा, आहार्या और औपाधिकी।[4] चूँकि हेमचन्द्र ने व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का संस्कारक माना है, अतः व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के साक्षात् हेतु नहीं हैं, क्योंकि प्रतिभारहित व्युत्पत्ति और अभ्यास विफल देखे गए हैं।[5] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि हेमचन्द्र ने यद्यपि दण्डी का साक्षात् उल्लेख नहीं किया है तथापि उक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने दण्डी के 'न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना...।' इत्यादि कथन का खण्डन अवश्य किया है। नरेन्द्रप्रभसूरि,[6] अजितसेन[7] और वाग्भट-द्वितीय[8] हेमचन्द्र की तरह व्युत्पत्ति और अभ्यास से संस्कृत प्रतिभा को ही काव्य का हेतु मानते हैं। भावदेवसूरि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के सम्मिलित रूप को काव्य का हेतु मानते हैं।[9] सिद्धिचन्द्रगणि ने मम्मट-सम्मत-काव्य-हेतुओं का खण्डन करते हुए लिखा है कि—'डिम्भादावपि काव्योद्भवदर्शनात्, शक्तेरेव हेतुत्वात्'[10] अर्थात् डिम्भ (बालक) आदि में भी

---

१ प्रतिभास्य हेतुः। —काव्यानुशासन, १।४।

२ व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या। —वही, १।७।

३. सावरणक्षयोपशममात्रात् सहजा। मन्त्रादेरौपाधिकी। —वही, १।५-६।

४. काव्यमीमांसा, पृ० १२।

५. अत एव न तौ काव्यस्य साक्षात्कारणं प्रतिभोपकारिणौ तु भवतः।
दृश्येते हि प्रतिभाहीनस्य विफलौ व्युत्पत्त्यभ्यासौ॥
—काव्यानुशासन, १।७। वृत्ति।

६. कारणं प्रतिभैवास्य व्युत्पत्त्यभ्यासवासिता।
बीजं नवांकुरस्येव काश्यपी-जलसंगतम्॥ —अलंकारमहोदधि, १।६।

७. व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कार्या शब्दार्थघटनाघटा।
प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभास्य धीः॥—अलंकारचिन्तामणि, १।९।

८. व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कृता प्रतिभास्य हेतुः। —काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० २।

९. शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासस्तस्य हेतुरिति त्रयम्। —काव्यालंकारसार, १।२।

१०. काव्यप्रकाश-खण्डन, पृ० २।

काव्य-सर्जना शक्ति दिखलाई देने से शक्ति (प्रतिभा) ही काव्य का हेतु है। इस खण्डन के मूल मे सिद्धिचन्द्रगणि पण्डितराज जगन्नाथ से प्रभावित प्रतीत होते है।[1] पण्डितराज जगन्नाथ केवल प्रतिभा को ही काव्य में हेतु मानते हैं, वह कही देवता अथवा महापुरुष के प्रसाद से उत्पन्न अदृष्ट रूप होती है और कही विलक्षण व्युत्पत्ति और अभ्यास से जन्य।[2]

उपर्युक्त काव्य-हेतु विवेचन को ध्यान मे रखते हुए कहा जा सकता है कि आचार्य भामह ने काव्य-हेतु प्रसग मे प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों का समान रूप से उल्लेख किया है, किन्तु प्रतिभा पर अधिक बल दिया है, अत. ऐसा प्रतीत होता है कि वे काव्य-हेतुओं मे प्रतिभा को विशिष्ट मानते थे। दण्डी ने यद्यपि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनो को समान रूप से स्वीकार किया है, किन्तु वे कही-कहीं प्रतिभा के अभाव मे भी मात्र व्युत्पत्ति और अभ्यास के द्वारा काव्य-रचना स्वीकार करते है। अत इनका मत अन्य समस्त आचार्यों से पृथक् है। आनन्दवर्धन प्रतिभा को ही प्रमुख हेतु मानते हैं। मम्मट प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के सम्मिलित रूप को काव्य-हेतु स्वीकार करते हैं, जिसका समर्थन जैनाचार्य भावदेवसूरि ने भी किया है। भावदेवसूरि को छोड़कर शेष समस्त जैनाचार्यों ने व्युत्पत्ति और अभ्यास से सस्कृत प्रतिभा को ही काव्य-हेतु स्वीकार किया है, जिसका समर्थन परवर्ती प्रमुख विद्वान् पंडित-राज जगन्नाथ ने किया है, जो इन मतों की विलक्षणता का परिचायक है।

काव्य-स्वरूप

किसी भी वस्तु का स्वरूप निरूपण करना असम्भव नही तो श्रमसाध्य अवश्य है। सामान्यत वस्तु का स्वरूप तब तक पूर्णत शुद्ध नही माना जाता है, जब तक कि वह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीनों दोषो से रहित न हो। अत' जिस स्वरूप में उपर्युक्त दोषो का अभाव होगा, वही शुद्ध स्वरूप माना जायेगा।

प्राचीनकाल से अद्यावधि काव्य के स्वरूप पर विभिन्न आचार्यों ने विचार किया है। उपलब्ध काव्य-स्वरूपों में भामह-कृत काव्य-स्वरूप सबसे प्राचीन है।

---

१ द्रष्टव्य न तु त्रयमेव, बालादेस्तो विनाऽपि केवलात् महापुरुषप्रसादादपि प्रतिभोत्पत्ते.। —रसगगाधर, पृ० २९।

२ तस्य (काव्यस्य) कारणं कविगता केवला प्रतिभा। तस्याश्च हेतु क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्, क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्य-करणाभ्यासौ। —वही, पृ० २७-२९।

उनके समय में काव्य-स्वरूप को लेकर विभिन्न धारणाएँ प्रचलित थीं। कोई आचार्य केवल शब्द और कोई केवल अर्थ को काव्य की संज्ञा से अभिहित करते थे। जिसका संकेत कुन्तक आदि परवर्ती आचार्यों के उल्लेखों से स्पष्ट होता है।[1] भामह ने इसी द्वन्द्व को समाप्त करने की दृष्टि से एक ऐसे काव्य-स्वरूप का विधान किया, जिसमें शब्द और अर्थ दोनों को समान रूप से उचित स्थान मिल सके। भामह के इसी सुदीर्घ चिन्तन का परिणाम था—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्[2]।' लेकिन यह काव्य-स्वरूप बुद्धिजीवियों को अधिक ग्राह्य न हो सका। क्योंकि यह अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त था तथा इसमें सामान्य गद्य-पद्य रचना का भी समावेश सम्भव था। अतः दण्डी ने इसी का परिष्कार करते हुए काव्य-स्वरूप निरूपण किया और लिखा कि—अभिलषित अर्थ को अभिव्यक्त करने वाली पदावली का नाम काव्य है।[3] किन्तु भामह और दण्डी के उक्त काव्य-स्वरूपों में कोई मौलिक भेद नहीं है। अभिलषित अर्थ और पदावली (शब्दावली) भामह के शब्द और अर्थ हैं। अतः दण्डीकृत काव्य-स्वरूप भी उक्त अतिव्याप्ति दोष से मुक्त न हो सका। सम्भवतः शब्द और अर्थ को काव्य मानने वाले इन्हीं आचार्यों की ओर आनन्दवर्धन ने 'शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्'[4] इस पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत पंक्ति द्वारा संकेत किया है।

इस समय तक विद्वानों का ध्यान केवल काव्य के शरीर तक ही सीमित था। चूँकि शरीर है, इसलिए उसकी आत्मा भी होनी चाहिए। यही सोचकर उत्तरवर्ती विद्वानों ने काव्य की आत्मा पर भी विचार करना प्रारम्भ किया। वामन का 'रीतिरात्मा काव्यस्य'[5] और आनन्दवर्धन का 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति[6]' इसी दिशा में स्तुत्य प्रयास हैं। आनन्दवर्धन का ध्वनि-स्वरूप[7]

---

१. केषांचिन्मतं कविकौशलकल्पितकमनीयतातिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति। केषांचिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यमिति।
—वक्रोक्तिजीवित, १।७। वृत्ति।

२ काव्यालंकार, १।१६।

३ शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। —काव्यादर्श, १।१०।

४ ध्वन्यालोक, १।१। वृत्ति।

५. काव्यालंकारसूत्र, १।२।६।

६. ध्वन्यालोक, १।१।

७ यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ —वही, १।१३।

विशेषण ही एक उच्चस्तरीय काव्य की ओर संकेत करता है। तत्पश्चात् काव्य-स्वरूप पर व्यापक दृष्टि से विचार करने वाले संभवतः आचार्य मम्मट हैं। उन्होंने काव्य-स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—दोष-रहित, गुण-सहित और कहीं-कहीं (स्पष्ट) अलंकार रहित (साधारणत: अलंकार सहित) शब्द और अर्थ के समूह का नाम काव्य है[1]। इस स्वरूप में मम्मट ने शब्द और अर्थ के 'अदोषौ' आदि विशेषण प्रस्तुत कर निश्चय ही प्रशंसनीय कार्य किया है। यद्यपि परवर्ती आचार्य विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने उनके काव्य-स्वरूप की कड़ी आलोचना की है तथापि यह उतना त्रुटि-पूर्ण नहीं है, जितना उसे बतलाया गया है। विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ आदि स्वतंत्र चिन्तक आचार्यों को छोड़कर शेष आचार्यों के काव्य-स्वरूपों पर प्राय मम्मट का प्रभाव लक्षित होता है। समस्त जैनाचार्य प्राय: मम्मट के अनुगामी हैं।

जैनाचार्य वाग्भट-प्रथम ने काव्य-स्वरूप पर विचार करते हुए लिखा है कि—सुन्दर शब्द और अर्थों से युक्त, गुण और अलंकारो से भूषित, स्पष्ट रीति और रसों से युक्त काव्य कहलाता है[2]। इस स्वरूप में मम्मट की अपेक्षा सामान्यत निम्न तीन विशेष बातें दिखलाई देती हैं—

१ वाग्भट-प्रथम द्वारा स्पष्ट रीति और रस का समावेश।

२ काव्य मे अलंकार की स्थिति अनिवार्य मानना।

३ अदोषौ विशेषण का अभाव।

हेमचन्द्राचार्य ने काव्य-स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि—दोष-रहित, गुण और अलंकार सहित (कहीं-कहीं अलंकार रहित भी) शब्द और अर्थ काव्य हैं[3]। मम्मटोल्लिखित और हेमचन्द्रसम्मत काव्य-स्वरूप मे पूर्णत साम्य है। नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट-सम्मत काव्य-स्वरूप में कुछ अपनी बात का समावेश करते हुए लिखा है कि—दोष-रहित, गुण, अलंकार और व्यंजना-सहित काव्य कहलाता है[4]। इस स्वरूप मे 'सव्यंजनस्तथा' यह विशेषण दिया

---

१. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन क्वापि। —काव्यप्रकाश, १।४।

२ साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालंकारभूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं·· ॥ —वाग्भटालंकार, १।२।

३. अदोषौ सगुणौ सालकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्। —काव्यानुशासन, १।११।

४. निर्दोष: सगुण सालंकृत सव्यजनस्तथा।
शब्दस्यार्थस्य वैचित्र्यधायकत्वं हि कियाहते ॥ —अलंकारमहोदधि, १।१३।

है, की अपेक्षा मौलिक है । लेकिन क्या काव्य के सभी प्रकारों में गुणत्व का समावेश होता है ? यह विचारणीय है । क्योंकि नरेन्द्रप्रभसूरि ने अधम काव्य के शब्द-काव्य नामक तृतीय भेद के स्वरूप में व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति का उल्लेख नहीं किया है, जिससे उनका यह काव्य-स्वरूप अव्याप्ति दोष से ग्रसित है । अतः उक्त विशेषण सदोष है । विनयचन्द्रसूरि ने गुण-सहित शब्द और अर्थ को काव्य स्वीकार किया है[1] । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे काव्य में गुणों को अत्यधिक महत्त्व देते थे अर्थात् विनयचन्द्रसूरि के अनुसार काव्य में गुणों की कदापि उपेक्षा नहीं की जा सकती है, जो वास्तविकता के सन्निकट है । विजयवर्णी ने काव्य-स्वरूप प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि—दोष-रहित, गुण-सहित, रीति, वृत्ति, शय्या और रस से युक्त तथा अलंकार और पाक सहित शब्दार्थ-रचना जिसमें उत्तम हो वह काव्य है ।[2] प्रस्तुत स्वरूप में विजयवर्णी ने वृत्ति, शय्या और पाक का प्रथम बार समावेश किया है । इसके पश्चात् आचार्य अजितसेन का समय आता है, उनके समक्ष अनेक आचार्यों के काव्य-स्वरूप विद्यमान थे । अतः उनके मस्तिष्क में एक ऐसा स्वरूप बनाने का संकल्प था, जिसमें सभी प्रमुख आचार्यों के प्रमुख सिद्धान्तों का समावेश हो, कोई भी तत्त्व उससे अछूता न रह जाए । इसी आकांक्षा को साकार रूप देते हुए उन्होंने काव्य-स्वरूप निरुपण करते हुए लिखा है कि—सुख चाहने वाला, अनेक शास्त्रों का ज्ञाता और प्रतिभाशाली कवि शब्दालंकारों और अर्थालंकारों से युक्त शृङ्गारादि नौ रसों के सहित, वैदर्भी इत्यादि रीतियों के सम्यक् प्रयोग से सुन्दर, व्यंग्यादि अर्थों से समन्वित, श्रुतिकटु इत्यादि दोषों से शून्य, प्रसाद और माधुर्यादि गुणों से युक्त, नायक के चरित वर्णन से सम्पृक्त, उभय-लोक हितकारी एवं सुस्पष्ट काव्य ही उत्तम काव्य होता है ।[3] यदि प्रस्तुत काव्य-

---

१ शब्दार्थौ सगुणौ काव्यम् ।—काव्यशिक्षा, १।८ ।

२ अदोषः सगुणो रीतिवृत्तिशय्यारसान्वितः ।
सालंकारः सपाकश्च शब्दार्थरचनोत्तमः ॥—शृंगारार्णवचन्द्रिका, १।२३ ।

३. शब्दार्थालंकृतीद्धं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामम् ।
व्यंग्याद्यर्थं विदोषं गुणगणकलितं नेतृसद्वर्णनाढ्यम् ॥
लोके द्वन्द्वोपकारि स्फुटमिह तनुतात् काव्यमग्र्यं सुखार्थी,
नानाशास्त्रप्रवीणः कविरतुलमतिः पुण्यधर्मोरुहेतुम् ॥
—अलंकारचिन्तामणि, १।७ ।

स्वरूप का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो ज्ञात होता है कि इनसे पूर्व आलंकारिकों में प्रचलित जो रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि रूप पाँच सम्प्रदाय थे, उनका सम्यक्रूपेण समावेश किया गया है। इतना स्पष्ट और विस्तृत काव्य-स्वरूप अन्यत्र देखने में नहीं आया है, लेकिन इसका कलेवर इतना बृहत् हो गया है कि सामान्य काव्य-रचना इसके अन्तर्गत न आ सकेगी। वाग्भट-द्वितीय ने दोष-रहित, गुण-सहित तथा प्राय अलंकार जिसमें हों ऐसे शब्दार्थ-समूह को काव्य कहा है[1]। यह मम्मट के काव्य-स्वरूप की पुनरावृत्ति मात्र है। इसी प्रकार भावदेवसूरि सहृदयों के लिए इष्ट, दोष-रहित सद्गुणों और अलंकारो से युक्त शब्दार्थ-समूह को काव्य मानते हैं[2]। इस स्वरूप लेखन के मूल मे भी मम्मट के काव्य-स्वरूप की ही भावना प्रधान है। सिद्धिचन्द्रगणि ने मम्मट के काव्य-स्वरूप का खण्डन करके साहित्यदर्पणकार के 'वाक्यं रसात्मक काव्यम्' इस स्वरूप का समर्थन किया है[3]। मम्मट सम्मत काव्य-स्वरूप के खण्डन मे उन्होने साहित्य-दर्पणकार के तर्कों का ही सहारा लिया है, उसके सम्बन्ध में कोई नवीन बात नहीं कही है।

उपर्युक्त काव्य-स्वरूपो को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि मम्मट के समय तक काव्य के समस्त अगो पर समान रूप से विचार किया जाने लगा था। चूँकि वाग्भटादि जैनाचार्य उनके परवर्ती है, अत उन्होने भामहादि प्रारम्भिक आचार्यों की तरह मात्र काव्य के शरीर पर ही विचार न कर उसके सम्पूर्ण अगों पर विचार किया है और यही कारण है कि जैनाचार्य-सम्मत काव्य-स्वरूपों पर प्राय मम्मट का प्रभाव दिखाई देता है।

आचार्य वाग्भट-प्रथम ने मम्मट के काव्य-स्वरूप मे एक-दो नवीन तत्वो का समावेश किया है, जिसमे रीति प्रमुख है। किन्तु सामान्यतया विद्वान् रीति को काव्य मे आवश्यक नही मानते हैं। हेमचन्द्राचार्य पूर्णत मम्मट के अनुयायी हैं। नरेन्द्रप्रभसूरि ने मम्मट के काव्य-स्वरूप मे 'सव्यञ्जनस्तथा' यह

---

१ शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्राय सालंकारौ काव्यम्।

—काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० १४।

२ शब्दार्थौ च भवेत्काव्यं तौ च निर्दोष सद्गुणौ।
सालंकारौ सतामिष्टावत एतन्निरूप्यते ॥

—काव्यालंकारसारसंग्रह, १।५।

३. काव्यप्रकाश-खण्डन, पृ० ३।

एक नवीन विवेचन किया है, जो [illegible] विनयचन्द्रसूरि ने शब्द और अर्थ का एक 'सगुणी' मात्र विवेचन किया है और उसी से वे काव्य में आवश्यक सभी तत्त्वों का समावेश और अनावश्यक तत्त्वों का परिहार स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। विजयवर्णी ने अपने काव्य-स्वरूप में वृत्ति, शय्या और पाक का प्रथम बार समावेश किया है। अजितसेन ने पूर्व प्रचलित रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि रूप पांच सम्प्रदायों को अपने काव्य-स्वरूप में समान रूप से स्थान दिया है। वाग्भट-द्वितीय और भावदेवसूरि मम्मट के ही अनुयायी हैं। सिद्धिचन्द्रगणि मम्मट के काव्य-स्वरूप से असहमत हैं, इस प्रसंग में उन्होंने साहित्यदर्पणकार को ही आदर्श माना है।

इस प्रकार जैनाचार्यों ने अपनी नवीन सूझ-बूझ के साथ काव्य-स्वरूप में कुछ नवीन तथ्यों का समावेश अथवा अनावश्यक का त्याग करते हुए अपना मत प्रस्तुत किया है। जिसमे उन्होंने प्रारम्भ से चली आई परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने का सफल प्रयास किया है तथा काव्य-स्वरूप पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार कर एक नवीन चेतना का संचार किया है।

काव्य-भेद

अलंकार शास्त्र मे काव्य-भेदो का विभाजन विभिन्न आधारों को लेकर किया गया है। सर्वप्रथम आचार्य भामह ने चार आधार प्रस्तुत किये हैं[1]—

१—छन्द के आधार पर—गद्य और पद्य।

२—भाषा के आधार पर—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश।

३—विषयवस्तु के आधार पर—देवता आदि का चरितसम्बन्धि, कविकल्पना-प्रसूत, कलाश्रित और शास्त्राश्रित।

४—स्वरूप विधान के आधार पर—सर्गबन्ध (महाकाव्य), अभिनेय (रूपक), आख्यायिका, कथा और अनिबद्ध (मुक्तक)।

दण्डी ने छन्द के आधार पर भामह-सम्मत गद्य और पद्य के अतिरिक्त एक मिश्र नामक तृतीय भेद भी स्वीकार किया है,[2] जिसके निदर्शन नाटक आदि हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने चम्पू को भी मिश्र के अन्तर्गत एक नवीन

१ काव्यालंकार, १।१६-१८।

२. काव्यादर्श, १।११।

है।[1] शेष बातें भामह-सम्मत ही उन्हें मान्य हैं। इस प्रकार जैनाचार्य प्रायः भामह के समर्थक हैं।

कथा

कथा मे सामान्यत कविकल्पना प्रसूत वर्णन किया जाता है। भामह के अनुसार इसकी रचना सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में होती है, इसमें वक्त्र और अपरवक्त्र नामक छन्दों तथा उच्छ्वासो का अभाव होता है। इसके अतिरिक्त उसमे नायक अपना चरित स्वय नहीं कहता है, अपितु किसी अन्य व्यक्ति से कहलाता है, क्योकि कुलीन व्यक्ति अपने गुण स्वय कैसे कहेगा।[2] दण्डी कथा और आख्यायिका मे कोई मौलिक भेद न मानकर एक ही जाति के दो नाम मानते हैं।[3] उनके अनुसार कथा की रचना सभी भाषाओ तथा सस्कृत मे भी होती है। अद्भुत अर्थों वाली बृहत्कथा भूतभाषा मे है।[4] आनन्दवर्धन ने काव्य के भेदो मे परिकथा, खण्डकथा और सकलकथा का उल्लेख किया है।[5] अग्निपुराणकार ने कथा के स्वरूप में कुछ नवीन बातों का समावेश किया है। यथा—कवि संक्षेप मे कुछ पद्यों द्वारा अपने वश की प्रशंसा करता है, मुख्य कथा के अवतरण हेतु अवान्तर कथा का संयोजन करता है तथा विभाजन परिच्छेदों मे न होकर लम्बको मे होता है।[6]

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने कथा का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि जिसमें धीर प्रशान्त नायक हो तथा जो सर्व-भाषाओ में निबद्ध हो ऐसी गद्य अथवा पद्यमयी रचना कथा कहलाती है।[7] इस स्वरूप मे हेमचन्द्र ने दण्डी की

---

१ तत्र नायिकाख्यातस्ववृत्तान्तामाव्यर्थशंसिनी सोच्छ्वासा कन्यकापहारसमागमाभ्युदयभूषिता मित्रादिमुखाख्यातवृत्तान्ता अन्तरान्तरापरिमितपद्यबन्धा आख्यायिका। —काव्यानुशासन-वाग्भट, पृ० १६।

२ काव्यालकार, १।२८-२९।

३ तत् कथाख्यायिकेत्येका जाति: संज्ञाद्वयांकिता। —काव्यादर्श, १।२८।

४ वही, १।३८।

५ ध्वन्यालोक, ३।७ वृत्ति।

६. अग्नि पुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, १।१५-१६।

७. धीरशान्तनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा।

—काव्यानुशासन, का८।

तरह किसी भाषा विशेष का बन्धन नहीं रखा है। उनके अनुसार संस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश में भी कथा का निबन्धन किया जा सकता है।[1] हेमचन्द्र ने कथा के दस भेद किए हैं—आख्यान, निदर्शन, प्रवह्लिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, उपकथा और बृहत्कथा। प्रत्येक का स्वरूप निम्न प्रकार है—

आख्यान—प्रबन्ध के मध्य मे दूसरे को समझाने के लिए नलादि उपाख्यान की तरह उपाख्यान का अभिनय, पाठ अथवा गान करते हुए जो एक ग्रन्थिक (ज्योतिषी) कहता है, वह गोविन्द की तरह आख्यान कहलाता है।[2]

निदर्शन—पशु-पक्षियों अथवा तद्भिन्न प्राणियों की चेष्टाओं के द्वारा जहाँ कार्य अथवा अकार्य का निश्चय किया जाता है, वहाँ पंचतन्त्र आदि की तरह तथा धूर्त, विट, कुट्टनीमत, मयूर, मार्जारिका आदि की तरह निदर्शन कहलाता है।[3]

प्रवह्लिका—प्रधान नायक को लक्ष्य करके जहाँ दो व्यक्तियों मे विवाद हो, वह आधी प्राकृत मे निबद्ध चेटकादि की तरह प्रवह्लिका है।[4]

मतल्लिका—प्रेत (भूत)-भाषा अथवा महाराष्ट्री भाषा में रचित लघु-कथा, गोरोचना अथवा अनङ्गवती आदि की तरह मतल्लिका कहलाती है, जिसमें पुरोहित, अमात्य अथवा तापस आदि का आरम्भ किये गये कार्य को समाप्त न कर पाने के कारण उपहास होता है, वह भी मतल्लिका कहलाती है।[5]

---

१. काव्यानुशासन, ८।८ वृत्ति।

२. प्रबन्धमध्ये परप्रबोधनार्थं नलाद्युपाख्यानमिवोपाख्यानमभिनयन् पठन् गायन् यदेको ग्रन्थिकः कथयति तद् गोविन्दवदाख्यानम्।

—वही, ८।८ वृत्ति।

३. तिरश्चामतिरश्चां वा चेष्टाभिर्यत्र कार्यमकार्यं वा निश्चीयते तत्पंचतन्त्रादिवत्, धूर्तविटकुट्टनीमतमयूरमार्जारिकादिवच्च निदर्शनम्।

—वही, ८।८ वृत्ति।

४. प्रधानमधिकृत्य यत्र द्वयोर्विवादः सोऽर्धप्राकृतरचिता चेटकादिवत् प्रवह्लिका।

—वही।

५. प्रेतमहाराष्ट्रभाषया क्षुद्रकथा गोरोचना अनङ्गवत्यादिवन्मतल्लिका। यस्यां पुरोहितामात्यतापसादीनां प्रारब्धानिर्वाहे उपहासः सापि मतल्लिका।

—वही।

हास्य-रस :

इसका स्थायिभाव हास है। भरतमुनि ने इसकी उत्पत्ति विकृत वेष, अलंकारादि विभावों से मानी है।[1] उनके अनुसार हास्य छः प्रकार का होता है—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित। प्रथम दो प्रकार का हास्य उत्तम पुरुषों में, मध्यम दो प्रकार का हास्य मध्यम पुरुषों में तथा अन्तिम दो प्रकार का हास्य अधम पुरुषों में पाया जाता है।[2] यह आत्मस्थ और परस्थ के भेद से भी दो प्रकार का होता है। जब किसी भी वस्तु के दर्शनादि से स्वयं हँसता है, तब आत्मस्थ कहलाता है और जब दूसरे को हँसाता है, तब वह परस्थ कहलाता है।[3]

जैनाचार्य आयरक्षित के अनुसार रूप, वय (अवस्था), वेश और भाषा की विडम्बना से उत्पन्न रस हास्य है। मन के हर्षित होने से भ्रू, नेत्र आदि का विकसित होना इस रस के चिन्ह (अनुभाव) हैं। यथा—कज्जल की रेखा से युक्त सोये हुए देवर को जागा हुआ देखकर स्तन के भार से कम्पित और जिसकी कमर झुकी हुई है, ऐसी श्यामा खिलखिला कर हँस रही है।[4] वाग्भट-प्रथम ने वेश आदि की विकृति से हास्य की उत्पत्ति मानी है। उनके अनुसार यह उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के भेद से तीन प्रकार का है। महापुरुषों के हास्य में केवल कपोलों और नेत्रों मे हास्य रहता है तथा ओष्ठ बन्द रहते हैं। मध्यम पुरुषों के हास्य मे मुख खुल जाता है और अधमों का हास्य शब्द-पूर्वक होता है।[5] हेमचन्द्र ने लिखा है कि स्मित, विहसित और अपहसित के भेद से आत्मस्थ हास्य तीन प्रकार का होता है, तथा क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति मे पाया जाता है। इसी प्रकार हसित, उपहसित, और अतिहसित के भेद से परस्थ भी तीन प्रकार का होता है, जो क्रमशः उत्तमादि प्रकृतियों मे पाया जाता है।[6] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने विकृत आचरण और आश्चर्यकारी चेष्टाओं से हास्य-रस की उत्पत्ति मानी है तथा उन्हें हास्य के भरत-सम्मत भेद ही मान्य हैं।[7] नरेन्द्रप्रभसूरि ने आत्मस्थ और परस्थ के

---

१ नाट्यशास्त्र, ६।४८, पृ० ७४।

२ वही, ६।५२-५३।

३ वही, ६।४८, पृ० ७४।

४ अनुयोगद्वार सूत्र (द्वितीय भाग), पृ० ३।

५. वाग्भटालंकार, ५।२६-२४।

६ काव्यानुशासन, २।१०-११।

७ हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१२-१३।

भेद से हास्य दो प्रकार का माना है।[1] विजयवर्णी ने सर्वप्रथम हास्य के तीन भेद किए हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। पुनः स्मित और हसित को उत्तम, विहसित और उपहसित को मध्यम तथा अपहसित और अतिहसित को अधम माना है।[2] अजितसेन ने हास्य के केवल तीन भेद किये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम।[3] वाग्भट-द्वितीय ने हास्य के तीन भेद माने हैं—स्मित, विहसित और अपहसित।[4] पद्मसुन्दरगणि ने अजितसेन की तरह हास्य के उत्तमादि तीन भेद किए हैं।[5] सिद्धिचन्द्रगणि ने स्मित, हसित और अतिहसित को उत्तम-मध्यम पुरुषों मे अनुभाव स्वीकार किया है।[6]

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों ने हास्य-रस की उत्पत्ति विकृत वेश आदि से ही स्वीकार की है तथा उन्हें हास्य के वे ही भेद स्वीकार हैं, जिन्हें अन्य आलंकारिकों ने स्वीकार किया है।

करुण-रस

इष्ट के विनाश और अनिष्ट के संयोग से उत्पन्न होने वाला करुण-रस कहलाता है। इसका स्थायिभाव शोक है। भरतमुनि ने शाप, क्लेश, विनिपात, इष्टजन-वियोग, विभाव-नाश, वध, बन्ध, विद्रव, उपघात और व्यसन आदि विभावों से करुण-रस की उत्पत्ति मानी है।[7]

जैनाचार्य आर्यरक्षित ने लिखा है कि प्रिय के वियोग, बन्धन, ताड़न, रोग, मरण और संभ्रम आदि से करुण रस की उत्पत्ति होती है। शोक, विलाप, मुख की म्लानता और रुदन आदि इसके चिह्न (अनुभाव) हैं। यथा—प्रिय विषयक चिन्ता से मलिन-चित्त और आँसुओं से भरी आँखों वाली हे पुत्री! उसके वियोग मे तेरा मुख कृश हो गया है।[8] वाग्भट-प्रथम ने शोक से उत्पन्न रस को करुण कहा है।[9] हेमचन्द्र के अनुसार इष्ट-विनाश आदि विभाव, दैवोपालम्भ आदि अनुभाव, निर्वेद-ग्लानि आदि दु.खमय व्यभिचारिभाव और शोक रूप स्थायिभाव वाला करुण रस है।[10] रामचन्द्र-गुणचन्द्र,[11] नरेन्द्रप्रभ-

---

१ अलंकार-महोदधि, ३।१७ वृत्ति। २. शृंगारार्णव-चन्द्रिका, ३।६९-७०।
३. अलंकार-चिन्तामणि, ५।९९-१००। ४ काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५५।
५. अकबरसाहिशृंगारदर्पण, ४।२३, २५।
६ काव्यप्रकाशखंडन, पृ० १९। ७. नाट्यशास्त्र, ६।६१, पृ० ७५।
८. अनुयोगद्वारसूत्र, द्वितीय भाग, पृ० ९। ९. वाग्भटालंकार, ५।२२।
१०. काव्यानुशासन, २।१२। ११. हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१४।

सूरि,[1] विजयवर्णी,[2] अजितसेन,[3] वाग्भट-द्वितीय[4] और पद्मसुन्दरगणि[5] ने समान रूप से करुण रस का विवेचन किया है, जिसमें करुण रस के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का उल्लेख करते हुए उसके स्थायिभाव पर प्रकाश डाला है। यह विवेचन भरत-परम्परा का पोषक है।

रौद्र-रस

इसका स्थायिभाव क्रोध है। इसकी उत्पत्ति शत्रु द्वारा किये गये अपकार आदि के द्वारा होती है। भरत ने इसे राक्षस, दानव और उद्धत पुरुषों के आश्रित माना है। यह रौद्ररस क्रोध, घर्षण, अधिक्षेप, अपमान, झूठ वचन, कठोर वाणी, द्रोह और मात्सर्य आदि विभावों से उत्पन्न होता है।[6]

जैनाचार्य आर्यरक्षित ने रौद्र रस का विवेचन करते हुए लिखा है कि—भयोत्पादक रूप, शब्द और अन्धकार के स्वरूप-चिन्तन से तथा तद्विषयक कथाओं के स्मरण से उत्पन्न समोह, सभ्रम विषाद और मरण रूप चिह्नों (अनुभावों) वाला रौद्ररस है। यथा—पशुहिंसा मे प्रवृत्त किसी हिंसक से कोई धर्मात्मा कह रहा है—भृकुटि से भयावह मुख वाले, अधरोष्ठ को चबाने वाले, खून से लथपथ, भयकर शब्दों वाले राक्षसों के सदृश तुम पशु की हिंसा कर रहे हो। अत तुम अति रौद्र-परिणामी रौद्र हो।[7] वाग्भट-प्रथम के अनुसार रौद्र रस क्रोधात्मक होता है और क्रोध शत्रु द्वारा किये गये पराभव से होता है। इसका नायक भीषण स्वभाव वाला, उग्र और विरोधी होता है। अपने कन्धों को पीटना, आत्म-प्रशंसा, अस्त्र फेंकना, भृकुटि चढ़ाना, शत्रुओं की निन्दा तथा मर्यादा का उल्लघन ये उसके अनुभाव हैं।[8] हेमचन्द्र ने स्त्रियों का अपमान आदि विभाव, नेत्रों की लालिमा आदि अनुभाव और उग्रता आदि व्यभिचारिभावों से युक्त क्रोध रूप स्थायिभाव वाला रौद्र रस कहा है।[9] रामचन्द्र-गुणचन्द्र का रौद्र रस विवेचन भरत का अनुगामी है।[10] इसी प्रकार

---

१ अलंकारमहोदधि, ३।१८। २ शृ गारार्णव-चन्द्रिका, ३।७४-७७।

३ अलंकारचिन्तामणि, ५।१०१। ४ काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५५।

५ अकबरसाहिशृ गार दर्पण, ४।२९-३१।

६ नाट्यशास्त्र, ६।६३, पृ० ७५।

७ अनुयोगद्वारसूत्र, प्रथम भाग, पृ० ८४१।

८. वाग्भटालंकार, ५।२९-३०।

९ काव्यानुशासन, २।१३। १० हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१५।

नरेन्द्रप्रभसूरि का विवेचन हेमचन्द्र से प्रभावित है।[1] विजयवर्णी के अनुसार रौद्र दो प्रकार का होता है—मात्सर्य और द्वेष से उत्पन्न। इसके अतिरिक्त उन्होंने रौद्ररस के विभावादि का भी उल्लेख किया है।[2] अजितसेन विभावादि से परिपुष्ट क्रोध को रौद्ररस मानते हैं।[3] वाग्भट-द्वितीय ने रौद्र के विभाव आदि का उल्लेख हेमचन्द्र की तरह किया है।[4] पद्मसुन्दरगणि का रौद्ररस विवेचन वाग्भट-प्रथम से प्रभावित है।[5] इस प्रकार रौद्ररस का सभी आचार्यों का विवेचन एक ही सरणी पर आधारित है।

वीर-रस

इसका स्थायिभाव उत्साह है। भरत ने उत्साह नामक स्थायिभाव को उत्तम प्रकृतिस्थ माना है। उनके अनुसार वीररस की उत्पत्ति असमोह, अध्यवसाय, नीति, विनय, अत्यधिक पराक्रम, शक्ति, प्रताप और प्रभाव आदि विभावों से होती है।[6]

जैनाचार्य आर्यरक्षित का वीररस विवेचन धार्मिक दृष्टिकोण को लिए हुए है, उनके अनुसार परित्याग और तपश्चरण करने पर तथा शत्रु का विनाश होने पर अननुशय (अहंकार-रहित) धृति और पराक्रम पूर्ण चिह्नों (अनुभावों) से युक्त वीररस कहलाता है। यथा—जो राज्य का त्याग करके दीक्षित होता है तथा काम, क्रोध-रूप महाशत्रु पक्ष का विनाश करता है, वह महावीर कहलाता है।[7] वाग्भट-प्रथम ने उत्साह नामक स्थायिभाव वाले वीररस के नायक को समस्त श्लाघनीय गुणों से युक्त माना है तथा इसके तीन भेद किए हैं—धर्मवीर, युद्धवीर और दानवीर।[8] हेमचन्द्र के अनुसार नीति आदि विभाव, स्थिरता आदि अनुभाव और धृति आदि व्यभिचारिभावों से युक्त उत्साह नामक स्थायिभाव वाला वीररस है। इसके धर्मवीर, दानवीर और युद्धवीर ये तीन भेद हैं।[9] रामचन्द्र-गुणचन्द्र पराक्रम, बल, न्याय, यश और तत्त्वविनिश्चय से वीररस की उत्पत्ति मानते हैं, इसका अभिनय धैर्य, रोमाञ्च और दान से

---

१. अलंकारमहोदधि, ३।१६।
२. शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ३।८०-८३।
३. अलंकारचिन्तामणि, ५।१०५।
४. काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५५।
५. अकबरसाहिशृंगारदर्पण, ४।३२।
६. नाट्यशास्त्र, ६।६६।
७. अनुयोगद्वारसूत्र, प्रथम भाग, पृ० ८३३।
८. वाग्भटालंकार, ५।२१।
९. काव्यानुशासन, २।१४।

किया जाता है।[१] उन्होंने वीररस के निश्चित भेद नहीं माने हैं, अपितु युद्ध, धर्म, दान आदि गुणों तथा प्रतापाकर्षण आदि उपाधि-भेदों से इसके अनेक भेद स्वीकार किए हैं।[२] नरेन्द्रप्रभसूरि का वीररस विवेचन हेमचन्द्र के समान है।[३] विजयवर्णी ने वीररस के विभावादि का उल्लेख करते हुए दानवीर, दयावीर और युद्धवीर ये तीन भेद माने हैं।[४] अजितसेन के अनुसार विभावादि से परिपुष्ट उत्साह नामक स्थायिभाव वीररस है, वह दानवीर, दयावीर और युद्धवीर के भेद से तीन प्रकार का होता है।[५] वाग्भट-द्वितीय का वीररस विवेचन हेमचन्द्र सम्मत है।[६] पद्मसुन्दरगणि ने वीररस के तीन भेद किये हैं—दयावीर दानवीर और युद्धवीर।[७] इस प्रकार जैनाचार्यों द्वारा किया गया विवेचन अपने आप में पूर्ण है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सामान्यतया वीररस के चार भेद माने जाते हैं—दानवीर, दयावीर, युद्धवीर और धर्मवीर। किन्तु जैनाचार्यों ने केवल तीन भेदों का ही उल्लेख किया है, चार का नहीं। कुछ आचार्यों ने दयावीर का उल्लेख न कर शेष तीन भेदों का उल्लेख किया है, जिनमे वाग्भट-प्रथम, हेमचन्द्र, नरेन्द्रप्रभसूरि और वाग्भट-द्वितीय आते हैं। ये आचार्य भरत-परम्परा के पोषक हैं।[८] कुछ आचार्यों ने धर्मवीर का उल्लेख न कर शेष तीन भेदों का उल्लेख किया है, जिनमे विजयवर्णी, अजितसेन और पद्मसुन्दरगणि आते हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र को वीररस के कोई निश्चित भेद मान्य नहीं हैं।

भयानक रस

इसका स्थायिभाव भय है। इसकी उत्पत्ति भयानक दृश्यों को देखने से होती है। आचार्य भरत ने विकृत ध्वनि, भयानक प्राणियों के दर्शन, सियार और उल्लू के द्वारा त्रास, उद्वेग, शून्य-गृह, अरण्य-प्रवेश, मरण, स्वजनों के वध अथवा बन्धन के देखने-सुनने या कथन करने आदि विभावों से इसकी उत्पत्ति मानी है।[९]

---

१ हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१६। २ वही, ३।१६ विवृति।
३ न्यायादिबोध्यः स्थैर्यादिहेतुर्युत्स्याद्युपस्कृत।
उत्साहो दान-युध्-धर्मभेदो वीररसः स्मृत॥ —अलंकारमहोदधि, ३।२०।
४ शृङ्गारार्णवचन्द्रिका, ३।८६-९०। ५. अलंकारचिन्तामणि, ५।१०९।
६ काव्यानुशासन, वाग्भट, पृ० ५६। ७. अकबरसाहिशृङ्गारदर्पण, ४।३५।
८ नाट्यशास्त्र, ६।७९। ९ वही, ६।६८।

निहतार्थ और अजितसेन-सम्मत गूढार्थ दोष में कोई भेद प्रतीत नहीं होता है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि पद दोषों के प्रसङ्ग में जैनाचार्यों द्वारा किये गये विविध प्रयासों के बाद भी प्राय मौलिकता का अभाव है।

पदांशगत-दोष :

मम्मट ने पदांशगत दोषो का उल्लेख किया है तथा श्रुतिकटु, निहतार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, सदिग्ध और नेयार्थ इन पदांशगत दोषों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।[1] जैनाचार्य हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि ने पदैक-देश (पदांशगत) दोषो को पद-दोष ही स्वीकार किया है।[2] नरेन्द्रप्रभसूरि ने पदांशगत दोषो को पदगत दोष मानते हुए भी मम्मटोल्लिखित उक्त ७ पदांश-गत दोषों मे से अश्लील को छोडकर छ दोषों के उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। ये उदाहरण वही हैं, जिन्हें मम्मट ने प्रस्तुत किया है। विजयवर्णी ने श्रुतिकटु, निरर्थक, अश्लील सदिग्ध और अवाचक इन ५ पदांशगत दोषों का पृथक् सोदा-हरण उल्लेख किया है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि विजयवर्णी ने यद्यपि पदांशगत दोषों का उल्लेख किया है तथापि अगले प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए लिखा है कि 'पददोष निरूप्याह वाक्यदोष ब्रुवेऽधुना' इससे स्पष्ट है कि उन्हे भी पदांश दोषो को पृथक् मानना अभीष्ट नहीं है।

मम्मट ने पदांशगत दोषो को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया है, किन्तु उनके परवर्ती वाग्भट-द्वितीय आदि जैनाचार्यों ने उनका उल्लेख भी नही किया है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि उक्त जैनाचार्यों को पृथक् पदांशगत दोषों को मानना अभीष्ट नही है। आचार्य हेमचन्द्र और नरेन्द्रप्रभसूरि आदि जैनाचार्यों ने पदांश दोषो को स्पष्ट रूप से पद-दोष ही स्वीकार किया है। विजयवर्णी ने यद्यपि मम्मट आदि आचार्यों की तरह पदांश दोषो का सोदाहरण उल्लेख किया है तथापि उनके 'पददोष... ' इस बाद वाले कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हे भी पदांश दोष पृथक् मान्य नहीं हैं। इसी प्रकार जैनाचार्य प्राय. पदांश दोषो को पृथक् मानने के पक्ष में नहीं हैं।

---

१ काव्यप्रकाश, पृ० २९५-३०० ।

२ 'पदैकदेश' पदमेव'—काव्यानुशासन, पृ० २०० एवं 'पदैकदेशोऽपि पदमेव'—अलंकारमहोदधि, पृ० १५३ ।

३ अलंकारमहोदधि, पृ० १५३-१५४ । ४ शृंगारार्णवचन्द्रिका, १०।२५-२९ ।

पुनरुक्तत्व—एक ही अर्थ का दो बार कथन करना। यथा—

प्रसाधितस्याथ मधुद्विषोऽभूदन्यैव लक्ष्मीरिति युक्तमेतत् ।
वपुष्यशेषेऽखिललोककान्ता सानन्यकाम्या ह्युरसीतरा तु ॥[1]

इस प्रकार कहकर एक ही अर्थ को पुनः कहते हैं—

कपाटविस्तीर्णमनोरमोरःस्थलस्थितश्रीललनस्य तस्य ।
आनन्दिता शेषजना बभूव सर्वाङ्गसङ्गिन्यपरैव लक्ष्मीः ॥[2]

यहाँ एक ही अर्थ का दो बार कथन होने से दोष है। कहीं पुनरुक्तता गुण हो जाती है। हेमचन्द्र ने गुण का उदाहरण निम्न प्रकार दिया है—

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
सम्प्रीणिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥[3]

यह निर्वेद के वशीभूत (उदासीन) व्यक्ति का कथन होने से शान्त रस की पुष्टि करता है, अतः यहाँ पुनरुक्तता गुण है, यह हेमचन्द्र का मत है।[4] किन्तु मम्मट ने अनवीकृतत्व नामक एक अन्य अर्थदोष माना है तथा उसीके उदाहरण में यह पद्य प्रस्तुत किया है।[5] अतः यहाँ एक ही अर्थ का पुनः-पुनः कथन किया गया है, अतः कोई नवीनता न होने से मम्मट के अनुसार अनवीकृतत्व दोष है।

भिन्नसहचरत्व—उचित सहचर की भिन्नता। यथा—

श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन मूर्खता मदेन नारी सलिलेन निम्नगा ।
निशा शशाङ्केन धृतिः समाधिना नयेन चालंक्रियते नरेन्द्रता ॥[6]

यहाँ श्रुति-बुद्धि आदि उत्कृष्ट सहचरों से व्यसन-मूर्खता रूप निकृष्ट सहचर की भिन्नता भिन्नसहचरत्व दोष है।

विरुद्धव्यंग्यत्व—विरुद्ध व्यंग्य का भाव। यथा—

---

१. काव्यानुशासन, पृ० २६४।
२. वही, पृ० २६४।
३. वही, पृ० २६७।
४. वही, पृ० २६७।
५. देखिये—काव्यप्रकाश, पृ० ३३३।
६. काव्यानुशासन, पृ० २६७।

है।[1] इसके साथ ही उन्होंने व्यभिचारिभाव, रस और स्थायिभाव की वाचक' ग्रहण करने को दोष मानने वाले मम्मटादि के मत का खंडन करते हुए यह व्यवस्था दी है कि विभावादि की पुष्टि होने पर व्यभिचारिभावादि को वाचक' ग्रहण करने पर भी दोष नही होता है।[2] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि—

परिहरति रति मति लुनीते स्खलतितरां परिवर्तते च भूय.।
इति बत विषमा दशास्य देह परिभवति प्रसभ किमत्र कुर्म ॥

इस पद्य में बेचैनी आदि अनुभाव शृङ्गार की तरह करुणादि मे भी सम्भव है, अत कामिनी रूप विभाव की प्रतीति यत्नपूर्वक होने से मम्मट ने विभाव की कष्टकल्पना रूप रसदोष माना है।[3] किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र उक्त पद्य में वाक्य दोष मानते हैं। उनका कहना है कि दो रसों में समान रूप से होने वाले विभावादि वाचक पदों की किसी एक नियत रस में विभावादि की कष्ट पूर्वक प्रतीति सन्दिग्धता रूप वाक्यदोष है।[4] रामचन्द्र-गुणचन्द्र का यह कथन एक सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है।

नरेन्द्रप्रभसूरि[5] और विजयवर्णी[6] ने मम्मट-सम्मत ही १० रसदोषो का उल्लेख किया है। यद्यपि अजितसेन ने रसदोषो का विशेष उल्लेख नही किया है तथापि उनकी ओर संकेत अवश्य किया है। उन्होंने रस और भाव का स्वशब्द से ग्रहण दोष माना है।[7] इसी प्रकार अनुभाव की कष्टकल्पना अथवा प्रतिकूल अनुभाव आदि का ग्रहण करना भी दोष माना है।[8] पद्मसुन्दरगणि ने निम्न ५

१ अङ्गीप्रधावयवच्च दोषा परमार्थतो अनौचित्यान्त पातिनोऽपि सहृदयाना-मनौचित्यव्युत्पादनार्थमुदाहरणत्वेनोपात्ता।

—हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० ३२८।

२ केचित्तु व्यभिचारि-रस-स्थायिनां स्वशब्दवाच्यत्व रसदोषमाहु, तदयुक्तम्। व्यभिचार्यदीनां स्ववाचकपदप्रयोगेऽपि विभावपुष्टौ—'दूरादुत्सुकमागते "।' इत्यादौ रसोत्पत्तेरदोष एवायम्।

—वही, पृ० ३२८-३२९।

३ काव्यप्रकाश, पृ० ३६०।

४. उभयरससाधारणविभावपदानां कष्टेन नियतविभावाभिधायित्वाभिगमोऽपि सन्दिग्धत्वलक्षणो वाक्यदोष एव।

—हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० ३२९।

५ अलंकारमहोदधि, ५।१८-२०।

६ शृंगारार्णवचन्द्रिका, १०।१७७-१८०।

७ अलङ्कारचिन्तामणि, ५।२५७। ८. वही, ५।२६०-२६१।

रसदोषों का पृथक्‌ उल्लेख किया है—(१) प्रत्यनीक, (२) विरस, (३) दुःसंधान, (४) नीरस और (५) पात्रदुष्ट ।[1]

उपर्युल्लिखित रसदोषों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि जैनाचार्यों द्वारा निरूपित यह प्रकरण भी आचार्य मम्मट से पूर्ण प्रभावित है। हेमचन्द्र ने ८ रसदोषों का विवेचन किया है। शेष रसादि की स्वशब्दवाच्यता और प्रतिकूल विभावादि के ग्रहण रूप मम्मट-सम्मत दो अन्य रसदोषों को न मानने में कोई विशेष हेतु प्रस्तुत नहीं किया है। साथ ही उन्होंने अन्य प्रकार से उन दो दोषों को स्वीकार भी किया है, जिनका यथास्थान विवेचन किया जा चुका है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने केवल ५ रसदोषों का उल्लेख किया है, किन्तु उनकी मूल मान्यता यही है कि रसदोषों के प्रथम भेद अनौचित्य में ही अन्य सभी रसदोषों का अन्तर्भाव हो जाता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र का यह मत निश्चय ही आनन्दवर्धन का प्रबल समर्थक है। क्योंकि आनन्दवर्धन भी—'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्' इत्यादि के द्वारा रसदोषों के मूल में अनौचित्य को ही स्वीकार करते हैं। नरेन्द्रप्रभसूरि और विजयवर्णी मम्मट के उपजीव्य हैं। पद्मसुन्दरगणि का रसदोष विवेचन कोई विशेष नहीं है। अजितसेन ने रसादि की स्वशब्दवाच्यता और अनुभावादि की प्रतिकूलता रूप मात्र दो रसदोषों का उल्लेख किया है। शेष वाग्भट-प्रथम, वाग्भट-द्वितीय और भावदेवसूरि आदि जैनाचार्यों ने रसदोषों का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु इससे यह अनुमान लगाना कि उन्हें रसदोष मान्य नहीं थे, उनके साथ अन्याय ही होगा।

इस प्रकार अब तक पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, अर्थगत और रसगतदोषों का उल्लेख किया गया है। तदनुसार जैनाचार्यों ने सामान्यतः पूर्वाचार्यों को आधार मानकर अपना विवेचन प्रस्तुत किया है, किन्तु आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं पूर्वाचार्यों का खण्डन करते हुए अपनी प्रबल युक्तियों द्वारा स्वमत का मण्डन भी किया है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि जैनाचार्यों द्वारा किया गया दोष विषयक यह प्रयास स्तुत्य है। अतः इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

दोष-परिहार :

उपर्युक्त दोषों में से कुछ दोष वक्ता आदि के औचित्य से दोषाभाव रूप या गुण बन जाते हैं। इसी को दोष-परिहार कहा गया है। यदि विस्तृत विवेचन किया जाए तो इसका कलेवर उक्त दोष विवेचन के समान ही होगा। क्योंकि

---

१. द्रष्टव्य, हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।१९२-९७।

(६) शृङ्खलावैचित्र्यहेतुक—दीपक, सार, कारणमाला, एकावली और माला।

(७) अपह्नवमूलक—मीलन, वक्रोक्ति और व्याजोक्ति।

(८) विशेषणवैचित्र्यहेतुक—परिकर और समासोक्ति।

उपर्युक्त अलकार-वर्गीकरण के प्रसग में रुद्रट, रुय्यक, नरेन्द्रप्रभसूरि और अतिजसेन—इन चार आचार्यों के मतो को उद्धृत किया गया है, जिनमें अन्तिम दो जैनाचार्य हैं।

आचाय नरेन्द्रप्रभसूरि का अलकार-वर्गीकरण रुय्यक से प्रभावित है। अन्तर केवल इतना है कि रुय्यक ने जिन अलकारो के मूल में सादृश्य को स्वीकार किया है, वही नरेन्द्रप्रभसूरि ने उनके मूल में अतिशयोक्ति माना है। रुय्यक ने रसवदादि अलकारो को अवर्गीकृत रखा है, किन्तु नरेन्द्रप्रभसूरि ने उन्हें रसवदादि की सज्ञा से अभिहित किया है। शेष विवेचन में प्राय समानता है।

अजितसेन ने दो प्रकार से अलकार वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, जो विद्यानाथ से पूणत प्रभावित है। जहाँ विद्यानाथ ने मालादीपक अलकार का उल्लेख किया है, वहाँ अजितसेन ने माला और दीपक—इन दो अलंकारों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है, जो उचित प्रतीत नही होता है, क्योंकि अजितसेन ने 'माला' अलकार की गणना नही की है।

●

व्यङ्ग्यमूलकशब्दवैचित्र्य २१
व्यङ्ग्यार्थ २४७
व्यञ्जक ४५, २४१
व्यञ्जकता २४५, २४६, २४७
व्यञ्जना २६, ४५, ५१, ७८, ७९, २४०, २४१, २७८
व्यञ्जनावृत्ति (ध्वनि) २३५
व्यञ्जनाव्यापार २४४
व्यञ्जनास्वरूप ३३
व्यतिरेक ११, २०६, २१३, २१४, २१५, २१८, २२०, २२१, २२४, २२५, २२७, २२९, २३०, २३१
व्यपदेश ५, २१२
व्यभिचारिभाव ११, १७, २१, ३१, ३३, ३९, ४७, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १२२ १२९, १३०, १३१, १३२, १३३, १३४, १३६, १३८, १७८, १८२, २४७
व्यर्थ १४६, १७६
व्यवहार का बोध ६८
व्यवहारज्ञान ७०
व्यवहित १४३, १४५
व्यसन १६, २८६
व्यसनरस १०७
व्यसनी २६२
व्यस्त २१०
व्यस्तसमस्त २१०
व्यस्तसम्बन्ध १५३
व्याकरण ४२, ६२, ६४, ७२
व्याकरणविरुद्ध १५०, १५१
व्याकरणशास्त्र ७४, २३३
व्याकीर्ण १५१
व्याघात ५२, २१८, २२०, २२१, २२४, २२६, २२७, २२९, २३०, २३१
व्याज २२७
व्याजस्तुति ११, २१५, २१८, २२०, २२१, २२४, २२५, २२९, २३०, २३१
व्याजोक्ति २१७, २१८, २२०, २२१ २२४, २२५, २२९, २३०, २३१, २३२, २९२
व्याधि ४८, १३०, २७५
व्यायोग १२, १७, ८३, २८७
व्याहत १४३, १४४, १६८, १६९, १७७, १७८
व्याहतार्थ १४७
व्याहतार्थत्व १७०
व्युत्पत्ति ६२, ६४, ७२, ७४, ७५, ७६
व्रीडनक ३, १०५, १०९, १२१, १२२, २८८
व्रीडनकरस १२१, १३९
व्रीडा १३०, १४९, १६३
व्रीडाजनक १६८
व्रीडाजनक-अश्लील १६७
व्रीडाभिव्यञ्जक १६३
व्ही० कृष्णमाचार्य ५६

श

शकार २७२
शकुन्तला २६४
शक्ति ६३, ६४, ६५, ७६
शङ्कर १८०
शङ्का १३०

संज्ञा २४३, २४५
सट्टक १२, १८, ८३, ८४, २८७
सत्त्व २६८
सत्त्वज २६८
सत्त्वज-अलंकार १२, २६७, २९४
सत्यभामा २७१
सत्यहरिश्चन्द्रनाटक १५
सनियम परिवृत्त १६८, १६९
सन्तानीय खण्डिल्ल गच्छ ४३
सन्तोष १६, १३१
सन्दानितक १२, ८२, ८४, ९६
सन्दिग्ध १४७, १४९, १५२, १६२, १६५, १६७, १६८, १६९, १७६, १७७, १७८, १८५
सन्दिग्धता १६५, १७१, १८२, १८४, २८९
सन्दिग्धप्राधान्य ९७, २८७
सन्देह २१७, २२१, २२६, २२९, २३१, २५२
सन्देहसंकर २२७
सन्धि १७, २०४, २५५
सन्धि-अश्लीलता १५८
सन्धिकष्टता १५८, १८४
सन्धिच्युत १६१
सन्धिदोष १४३, १४५
सन्धिविश्लेषता १५८
सन्ध्यङ्ग २०४
सप्तस्मरणवृत्ति ५०
सभङ्गश्लेष २११
सभङ्गश्लेषवक्रोक्ति २०७
सम ११, २१५, २१८, २२०, २२४, २२५, २२६, २२९, २३०, २३१
समज्योति ५, २१२, २१३, २९१
समता ८, १८९, १९०, १९१, १९६, १९७
समताहीन १७६, १७७
समयमाणिक्य (समरथ) ६१
समयविरुद्ध १४३, १४५
समयसुन्दरगणि ५३, ५७
समरादित्य ९४
समर्थ १८५
समवकार १२, १७, ८३, २८७
समस्त २१०
समाधि १८९, १९१, १९७, २१८, २२०, २२१, २२४, २२५, २२९, २३०, २३१
समाप्तपुनरात्त १५६, १६१, १६२
समाप्तपुनरात्तता १५३, १५५
समाप्तपुनरारब्धता १५८
समाप्तिपुनरारब्ध १८४
समासयुक्त ६७
समासरहित ६७
समासोक्ति ११, २१३, २१५, २१८, २२०, २२१, २२४, २२६, २२७, २२९, २३०, २३१, २३२
समाहित ५, २१२, २१३, २१४, २१५, २१८, २१९, २२०, २२४, २२९, २३०, २३१
समुच्चय ११, २१३, २१४, २१५, २१८, २२०, २२१, २२४, २२६, २२७, २२८, २२९, २३०
समुच्चयालंकार ७

स्नेह १६, १०८, १०९, २८६
स्नेहरस १०७
स्पर्श १३८
स्पृहा १११
स्पृहान्तर २८८
स्फुटप्रतीयमानवस्तुरूप २३०, २३१, २९२
स्फोटसिद्धान्त २३३
स्मरण २१८, २२७, २२८, २३०, २३१
स्मित ११२, ११३, १३८
स्मृति ११, ४८, १३०, २१५, २२० २२१, २२४, २२६, २७५
स्यादिशब्दसमुच्चय २४
स्रग्धरा १९३
स्वकीया ३४, २६३, २६४, २६६
स्वत सम्भवी ११, २४६, २५१, २९३
स्वत सिद्ध २४६, २५०
स्वभावज २६८, २७१
स्वभावहीन १४३, १४५
स्वभावोक्ति ११, ९५, २१३, २१-, २१८, २२०, २२१, २२९, २३०, २३१
स्वयंवर २६, ९०
स्वर १३४, २४१
स्वरभेद १७, १२८, १२९
स्वशब्दवाच्यता १७८, १८३
स्वशब्दोक्ति ४१
स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थ १४७, १४८
स्वाधीनपतिका ११, १२, ४७, २६६
स्वाभाविक ३४, २६८
स्वेद १७, १२८, १२९, १३४

ह

हतवृत्त १६२
हतवृत्तता १५३, १५५, १५७, १६१
हम्मीरकाव्य २३
हयग्रीववध १८०
हरनाथ द्विवेदी ३६
हरि ३१
हरिप्रसाद शास्त्री २९
हर्ष १३०, १३८
हर्षकीर्तिसूरि ४६
हल्लीसक १२, १८, ८३, २८७
हसित ११२, ११३
हाजा पटेल की पोल ५५
हाथी ७, २६ ८९
हायनसुन्दर ४७
हारबन्ध २१०
हाव १८, २६८, २६९
हास १३६, १३७, १८०
हास्य ३, ४८, ५१, १०२, १०४, १०५, १०६, १०८, १२२, १२३, १२४, १२५, १८७, २८१, २८८
हास्यरस ११२, ११३
हित ६८
हीनता १४५
हीयमानाक्षर २१०
हीरविजय ४६
हुमायू ४६
हृदयकवि ६६
हेतु १७, ४५, १९३, २००, २१३, २१४, २१५, २१९, २२०, २२१, २२४, २२६, २२७, २२८
हेतुशून्य १७६